जैन भारती

अगस्त, 2009 • वर्ष 57 • अंक 8 • वार्षिक रु. 200.00

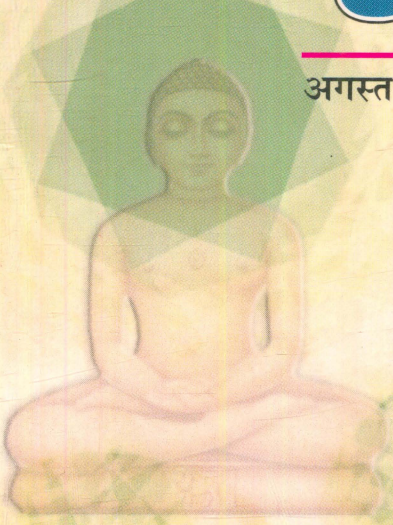

With best compliments from :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, **Bangalore** 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 • अगस्त, 2009 • अंक 8

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
स्वतंत्रता का घटक है—शुद्ध चैतन्य

16
डॉ. मथुरेशनंदन कुलश्रेष्ठ
स्वभावोक्ति : एक विमर्श

•

आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

23
साध्वी विमलप्रज्ञा
जयाचार्यश्री
वैचारिक स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के समन्वयक

27
मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'
मैत्री : शांति का अक्षय कोष

31
मुनि कुमुद कुमार
पर्युषण : परिवर्तन का अनूठा प्रयोग

33
लियो तोल्स्तोय
भोजन : आवश्यकता पूर्ति या आनंद

35
कहानी
सुदर्शन
संन्यासी

42
कविता
गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता

प्रसंग

7
शुभू पटवा
स्वतंत्र होने की ख्वाहिश

शीलन

45
साध्वी जगवत्सला
संस्कार संपदा : एक अनुशीलन

51
समणी सत्यप्रज्ञा
क्षमा : रचनात्मक शक्ति

53
मुनि राजकुमार
पर्युषण : आत्मावलोकन का पर्व

56
बालकथा
सत्येन्द्र शरत्
सांप की सीख

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • **फोन :** 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

कोबा (गांधीनगर)
पि. ३८२ ००९

जैसी नीति वैसा फल

कोई साधु बार-बार असावधानी करता है, पर उसकी नीति में अंतर नहीं। उस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—अनाज का कण पड़ा हुआ देख कर किसी साधु से गुरु ने कहा—'यहां अनाज का कण पड़ा है, इस पर पैर मत रखना।'

तब वह बोला—'स्वामीनाथ! पैर नहीं रखूंगा।'

थोड़ी देर बाद इधर-उधर घूमता हुआ आया और उस अनाज के कण पर पैर रख दिया।

तब गुरु बोले—'तुम्हें इस पर पैर रखना बरजा था न?'

तब वह साधु बोला—'स्वामीनाथ! मेरा ध्यान नहीं रहा।'

तब गुरु बोले—'अब इस पर पैर रख दिया, तो कल सवेरे तुम्हें 'विगय' खाने का त्याग है।'

थोड़ी देर बाद फिर इधर-उधर घूमता हुआ आया और उस पर पैर रख दिया।

इस प्रकार असावधानी के कारण उसने बार-बार उस पर पैर रखा, किंतु वह उस अनाज के कण पर पैर रखना और विगय-वर्जन करना चाहता नहीं है। उसकी सावधानी में कमी है—दोष की स्थापना नहीं है, इसलिए उसकी नीति शुद्ध है। यदि नीति शुद्ध हो, पर कर्मों के उदय से असावधानी हो जाए—तो उससे कोई असाधु नहीं बनता। और, मोह के उदय से जान-बूझ कर दोषों का सेवन करता है, उनकी स्थापना करता है और उनका प्रायश्चित्त भी नहीं करता, उससे वह असाधु होता है।

लेटे-लेटे करेंगे

किसी ने भीखणजी स्वामी से कहा—'आप वृद्ध हैं। आपकी आयु बहुत अधिक है। इसलिए आप प्रतिक्रमण बैठे-बैठे करें। आप खड़े होने का इतना कष्ट क्यों करते हैं?' तब स्वामीजी बोले—'यदि हम बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करेंगे, पीछे होने वाले लेटे-लेटे करेंगे—यह संभव है।' ●

निष्काम व्यक्ति कर्म करता हुआ भी अकर्म बन जाता है। उसके मन में कोई कामना शेष नहीं रहती। कामना-प्रेरित कर्म ही व्यक्ति को बांधता है। जब तक मनुष्य अयोग नहीं बन जाता, कर्म करता रहता है। कर्म के आधार पर उसके तीन रूप हमारे सामने हैं। एक कोटि का व्यक्ति सत्कर्म और असत्कर्म में कोई भेदरेखा नहीं खींचता। न उसका सत्कर्म में कोई विश्वास है और न वह सदाचरण ही करता है। दूसरी कोटि का व्यक्ति एक सीमा तक सत्कर्म में विश्वास करता है और एक सीमा तक उसका आचरण करता है। तीसरी कोटि में वह व्यक्ति आता है—जो सत्कर्म में पूरा विश्वास करता है और वह अपने विश्वास को खंडित करने वाला कोई आचरण नहीं करता। ऐसा व्यक्ति अपने कर्म को विकर्म बना लेता है। वह कर्म-व्यूह को भेद कर विकर्म के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। विकर्म या भावकर्म आगे चल कर व्यक्ति को अकर्म बना देता है। अकर्म बनते ही वह ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है—**एस अकम्मे जाणइ-पासइ**। अकर्म बनने के बाद सारे व्यवहार समाप्त हो जाते हैं—**अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ**। व्यवहार की भूमिका से ऊपर उठने वाला व्यक्ति निष्काम ही नहीं, कृतकाम बन कर संसार के लिए आदर्श बन जाता है।

—आचार्यश्री तुलसी

आदमी का जीवन रागात्मक होता है। उसकी पदार्थों के प्रति आसक्ति होती है, व्यक्ति-विशेष के प्रति अनुराग होता है और यहां तक कि धर्म के क्षेत्र में भी थोड़ा अनुराग आ जाता है। जिसको वीतराग बनना है, स्थितप्रज्ञ बनना है, उसे पूर्णतया रागमुक्त बनना होगा। एक शिष्य का गुरु के प्रति जो प्रशस्त अनुराग होता है, वह भी आखिरकार त्याज्य होता है। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम के मन में भी भगवान महावीर के प्रति रागभाव था। जब तक वह राग रहा—गणधर गौतम को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ।

गृहस्थ-जीवन में राग चलता है, परंतु वहां राग पर त्याग का अंकुश रहना चाहिए। गार्हस्थ्य में मनोरंजन को भी महत्त्व दिया जाता है, किंतु आत्मरंजन भी होना चाहिए। वहां भोग चलता है, तो साथ में योग भी चले। राग पर त्याग का, मनोरंजन पर आत्मरंजन का और भोग पर योग का अंकुश रहे तो गृहस्थ जीवन भी शांतिमय बन सकता है।

स्थितप्रज्ञ की पहली शर्त है—रागमुक्त चेतना का विकास। कभी-कभी बड़े-बड़े आचार्यों के मन में भी रागभाव आ जाता है। चाहे उसे धर्मानुराग कह दिया जाए अथवा प्रशस्त राग कह दिया जाए, परंतु वीतरागता की स्थिति में वह भी बाधक बन जाता है। इसलिए वीतराग बनने के लिए रागभाव को छोड़ना आवश्यक होता है। रागभाव/आसक्ति के कारण आदमी का पतन हो सकता है, वह विनाश तक जा सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

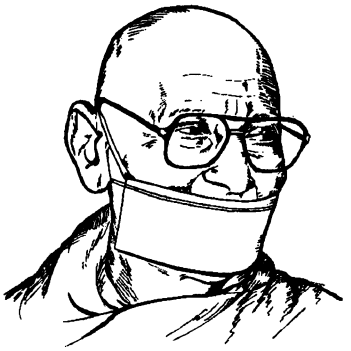

गरीबी और बेरोजगारी की समस्या का हल करने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए और किए जा रहे हैं, फिर भी बढ़ती आबादी ने उन प्रयत्नों को सफल नहीं होने दिया। इससे स्पष्ट होता है कि सीमित पदार्थ और असीम उपभोक्ता—इस परिस्थिति में गरीबी की समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। यह एक प्रमुख मोड़ है, जहां रुक कर हमें अहिंसा का नया रास्ता खोजना पड़ेगा और वह रास्ता है—संयम। केवल विधि-विधान और कानून के आधार पर समाज-व्यवस्था को अच्छा नहीं बनाया जा सकता, गरीबी और बेरोजगारी की समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सकता। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक है—संयम की चेतना का जागरण।

समस्या के मूल तक पहुंचने का प्रयत्न करें। भौतिक विकास का अर्थ है—पदार्थ का विकास। पदार्थ का विकास इंद्रिय तृप्ति की मांग है। पदार्थ के विकास की स्पर्धा को हिंसा और अशांति से पृथक नहीं किया जा सकता। पदार्थ और हिंसा का गहरा संबंध है। पदार्थ और अशांति का भी गहरा संबंध है।

इंद्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले विश्व में हम अहिंसा और शांति के विकास का प्रयत्न करें, क्या यह सफल होगा?

मानसिक चंचलता से तरंगित विश्व में हम अहिंसा और शांति का प्रयत्न करें, क्या यह संभव होगा?

अशुद्ध या निषेधात्मक भाव से आक्रांत विश्व में हम अहिंसा और शांति का प्रयत्न करें, क्या यह संभव होगा?

अहिंसा और शांति के लिए आवश्यक है—अतींद्रिय चेतना का विकास, अध्यात्म का विकास। हिंसा और अशांति को बढ़ाने वाले तत्व हैं—लोभ और भय। लोभ ही आवेश, उत्तेजना और क्रोध को जन्म देता है, शत्रु पैदा करता है, संघर्ष और युद्ध के वातावरण का निर्माण करता है। वह सबसे बड़ा निषेधात्मक भाव है।

क्या लोभ अथवा असीम महत्त्वाकांक्षा का परिष्कार किए बिना हम अहिंसा और शांति की स्थापना में सफल हो सकते हैं?

हम बुद्धि के साम्राज्य में सांस लेकर अहिंसा और शांति की दिशा में कदम आगे नहीं बढ़ा सकते। इस वैज्ञानिक युग ने नाड़ी-ग्रंथितंत्र (न्यूरो इंडोक्राइन सिस्टम) का महत्त्व समझाया है। इसलिए मानवीय व्यवहार को नियंत्रित करने वाले अंतःस्रावी और मस्तिष्कीय प्रोटोन (न्यूरो ट्रांसमीटर) का महत्त्व समझे बिना अहिंसा और शांति की कल्पना को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

विश्व-शांति की बात किसके हाथ में है—मैं नहीं जानता, किंतु विश्व अशांति की बात उन लोगों के हाथ में है, जिनके हाथ में अणुअस्त्रों का निर्माण करने और उनका प्रयोग करने की शक्ति है। क्या विश्व शांति चाहने वाली संस्थाएं इस क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण काम कर सकती हैं? यह एक प्रश्न है और इसका उत्तर सरल नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए एक गहरा विचार हो, ऐसा आवश्यक लगता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

स्वतंत्र होने की ख्वाहिश

ये दो शब्द 'स्व' और 'तंत्र' अपने में जितने अर्थवान हैं, उतने ही स्पष्ट भी हैं और इनका खुलासा इतना आवश्यक नहीं, उतना उसका मर्म समझना जरूरी है। दोनों शब्द मिल कर जब एक बनते हैं तो इसकी अर्थवत्ता अमाप्य बन जाती है। फिर भी एक सीमा अवश्य है और इसकी रक्षा के लिए जिस तरह के 'तंत्र' की अपेक्षा है, वही मूल्यवान है। 'स्व' का सीधा और सरल तात्पर्य है—अपना, और 'तंत्र' का तात्पर्य भी सीधा और सरल है—'मेकेनिज्म'। ऐसा 'मेकेनिज्म' जो 'स्व' की स्वायत्तता की रक्षा कर सके।

'अपना' यानी 'स्व' में एक सीमा स्वतः ही विद्यमान है और यह सीमा अपनी परिधि का अतिक्रमण न करे, इसी के लिए हमें एक 'तंत्र' की जरूरत है। यह 'तंत्र' जितना सक्षम होगा, हम उतना ही 'स्व' में रह सकेंगे। कहना चाहिए हम उतने ही 'स्वतंत्र' रह पाएंगे।

स्वतंत्र रहना तो हर किसी की ख्वाहिश होती है, पर रह कौन पाता है? वही, जो 'स्व' की परिधि को ठीक से समझे और उससे बाहर होने की किसी भी तरह की चेष्टा न करे। यही सबसे कठिन कार्य है।

हमारा वर्तमान दौर वैज्ञानिकता का दौर है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने इस दौर को असीम संसाधन और सुविधाएं मुहैया कराई हैं। पर, इस दौर में हमारा 'स्व' कहीं लुप्त हो गया है। इस कथन की पुष्टि उन अनेक घटनाओं से की जा सकती है, जिनके सामने मनुष्य असहाय सिद्ध हुआ है। किसी भी सूरत में असहाय हो जाना स्वतंत्रता का चीर हरण है और ऐसा हमारे विज्ञान की लीलाओं (?) में हम देख चुके हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सुफल अब तक सामान्य जन-जीवन की बेहतरी में जितने सहायक हुए हैं, उससे कहीं अधिक वे घातक सिद्ध हुए हैं। हिरोशिमा और नागासाकी की घटनाओं से लेकर भोपाल गैस त्रासदी हमें इसके आघात बेबस याद ही नहीं दिलाते, अंतस्तल को बेधते भी हैं।

ठीक इसी तरह हम और हमारा समाज एक बेजार बाजार और अबूझ विलासिता की कैद में भी अभिशप्त हैं। सहिष्णुता, समरसता और सहजीवन का लवलेश भी यहां

नहीं है। इस बाजार में हम एक 'वस्तु' भर हैं और भोगवाद इसकी परिणति है। तभी तो हिंसा, बलात्कार, अनैतिकता और अनुशासनहीनता का तांडव भुगतने की विवश लाचारी है। इसकी पुष्टि में हम अमेरिका जैसे संपन्न और सुसंस्कृत देश को देखें, जो आज हर तरह का बोध-पाठ पूरी दुनिया को पढ़ा रहा है। वहां के लाखों विद्यार्थी घातक हथियार रखने लगे हैं, तो स्कूली छात्राएं गर्भवती होने लगी हैं, वे विद्यालय आतंक और भ्रष्टाचार के केंद्र बनने लगे हैं। कई सर्वेक्षणों से ज्ञात होता है कि वहां किशोर और युवा उम्र के लोग तनाव और अवसाद से ग्रस्त हैं। कई तरह के मनोरोग और अन्यान्य बीमारियों ने उनको घेर लिया है। ऐसा क्यों है?

इसलिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी किसी 'स्व' और 'तंत्र' से आबद्ध नहीं किए जा सके। यदि ऐसा 'तंत्र' विकसित हो जाता कि 'स्व' की परिधि सुनिश्चित हो पाती, तो सही अर्थों में इनका स्वरूप 'स्वतंत्र' रह पाता। आज ये किसी के हाथ की कठपुतली हैं, तभी तो 'विनाश' के छिपे बीज नृशंसता के साथ डरावनी शक्ल में लपलपाने लगते हैं। इसीलिए संपूर्ण विश्व विनाश के खौफ से भयातुर है और ऐसी धमकियां भी आस-पड़ोस से जब-तब सुनाई दे जाती हैं। जाहिर है कि 'स्व' की जो अपनी सीमा होती है, उसे अपनी परिधि में रखने का कोई 'तंत्र' नहीं है, इसलिए उसका अतिक्रमण आसानी से हो जाता है। चूंकि उसे परिधि में रखने का 'तंत्र' ही सक्षम नहीं है, तो हम 'स्वतंत्र' हैं—यह भी कैसे कह सकते हैं? पर, जैसा कि कहा जा चुका है और यह स्पष्ट मान्यता भी है कि 'स्वतंत्र' होने या रहने की ख्वाहिश सबकी है। यह ख्वाहिश पूरी कैसे हो? यह विचारणीय है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसके लिए विज्ञान और अध्यात्म के संगम को एक कारगर उपाय मानते हैं। वे मानते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि का विकास जब तक नहीं होगा तब तक मूढ़ताओं, वृथा कर्मकांडों और भ्रामक आग्रहों का शमन नहीं होगा। ठीक इसी तरह से आध्यात्मिक दृष्टि का विकास नहीं होगा तो मानवीय संवेदना के निर्मल स्रोत, सत्यान्वेषी दृष्टि का विकास और नैतिकता हमारे दैनंदिन का अंग नहीं बन सकेंगे। माना ही गया है कि नैतिकता ही मनुष्यता को पूर्णता देती है। निर्मल बुद्धि तथा विवेकशीलता से ही 'स्व' और 'पर' का भेद समाप्त होता है और ये ही नैतिकता के उद्गम हैं। यही अध्यात्म है। इसीलिए जहां विज्ञान के लिए आध्यात्मिकता की आवश्यकता है, वहीं धर्म या अध्यात्म के लिए वैज्ञानिकता की जरूरत है।

शायद यही मत प्रो. सी. वी. रमन का भी रहा है। इस महान वैज्ञानिक ने भी कहा बताते हैं कि—'विज्ञान के प्रयोग मानव-हित में हों, यह चुनौती न केवल समूचे विज्ञान जगत के लिए है, बल्कि समूची मानवता के लिए भी है।' कहीं यह भी पढ़ने में आया है कि सर सी. वी. रमन यहां तक कहते हैं कि—'वैज्ञानिकता, विज्ञान एवं वैज्ञानिकों को हृदयहीन और संवेदनहीन नहीं होना चाहिए। वे हृदयवान हों, संवेदनशील हों—इसके लिए उन्हें अध्यात्म का साहचर्य चाहिए।'

विज्ञान और अध्यात्म को एक साथ और एक ही मापदंड से देखने-समझने के लिए जहां हमारे अध्यात्म-पुरुषों की मेधा और प्रखर दृष्टि जरूरी है, वहीं हमारे शासकों और नीति-नियंताओं की इस हेतु प्रतिबद्धता भी आवश्यक है। जो 'तंत्र' इसके लिए गढ़ा जा सकता है, वह उनकी इच्छाशक्ति पर अधिक अवलंबित है। अतः इनके मध्य अविराम तालमेल होना जरूरी है और यह देखना जरूरी है कि ऐसा तालमेल किसी भी तरह के क्षुद्र मनोभावों से सर्वथा मुक्त हो। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. श्यामाचरण शुक्ल ठीक ही कहते हैं—'भारतीय परंपराओं के अक्षय स्रोत से हमें भारतीयता के नए मूल्य और प्रतीक चुनने होंगे। ये तत्त्व ऐसे हों जिनके द्वारा हम आज और आने वाले कल की चुनौतियों का सामना कर सकें। इस प्रक्रिया में हमें कई मुखौटे उतारने होंगे और जीवन दृष्टि पर छाए पाखंड की धुंध का उन्मूलन करना होगा।'

तभी हम 'स्वतंत्र' होने और रहने की अपनी ख्वाहिश असली अर्थों में पूरी कर सकेंगे।

—शुभू पटवा

[15 अगस्त—स्वतंत्रता दिवस और 17-24 अगस्त पर्युषण पर्व है। संवत्सरी के साथ-साथ क्षमायाचना पर्व भी है, जो विश्व मैत्री दिवस का रूप ले चुका है। स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर अभिवादन और संवत्सरी पर्व पर मन, वचन, कर्म से हुए अनुचित व्यवहार के लिए क्षमायाचना. —सं.]

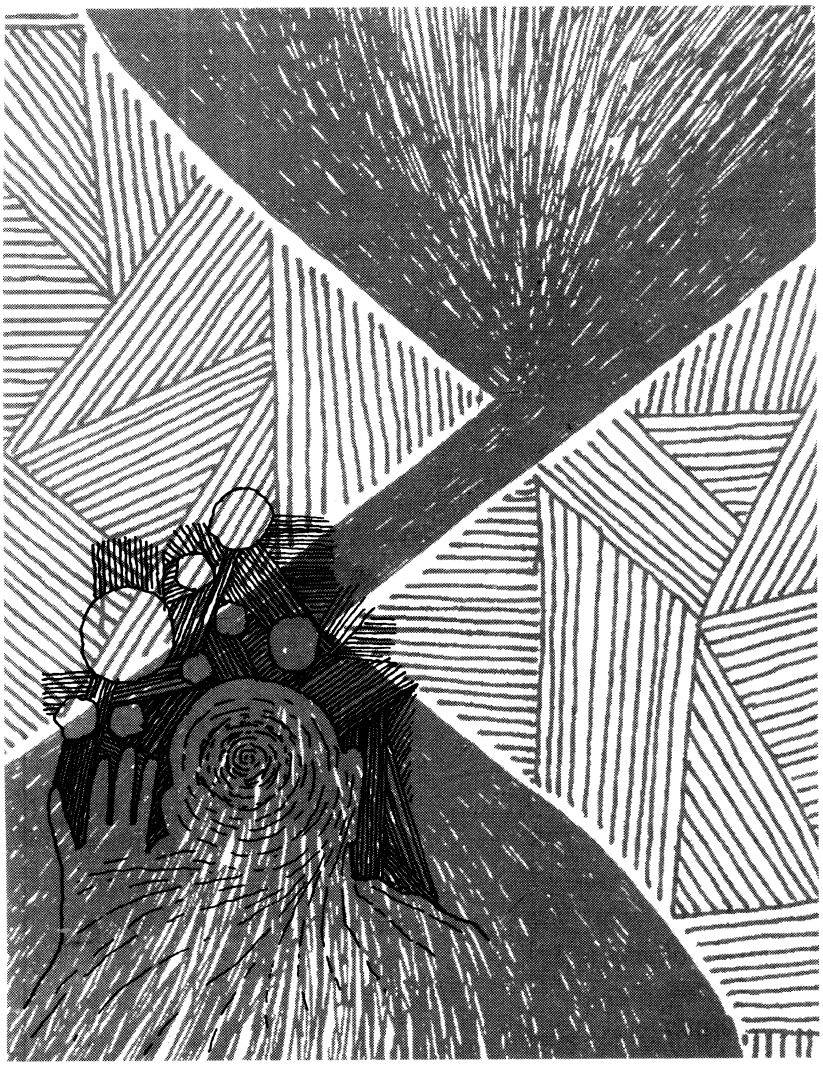

विमर्श

प्रत्येक विचार और कार्य का, चाहे वह भला हो या बुरा, हम पर तुरंत परिणाम होता है। मन के प्रत्येक आंदोलन का हमारे चरित्र और उसके विकास पर—हम चाहें या न चाहें—पक्का असर पड़ता है। उससे हमारे चरित्र का विकास अच्छा या बुरा होता है। यदि मैं आज कोई बुरा विचार करता हूं, तो कल उसे अधिक तत्परता और आग्रह के साथ करूंगा। यही बात अच्छे विचारों के बारे में भी है। यदि मैं संयम करूं या शांत होने का प्रयत्न करूं तो आगे के लिए यह प्रयत्न अधिक सरल और स्वयं-स्फूर्त हो जाएगा। यह क्रम-विकास जारी रहता है। हिंदू दर्शन का मत है कि मृत्यु के समय तक मनुष्य के विचार, कार्य और प्रायश्चित्त से जो भी चरित्र बन जाता है, वह आत्मा से संलग्न रहता है और आत्मा की दूसरी यात्रा उसी के आधार पर प्रारंभ होती है।

कर्म भाग्यवाद नहीं है। वह वैयक्तिक प्रयत्न को व्यर्थ करने वाला कोई निरंकुश और बाह्य साधन नहीं है। इसके विपरीत—कर्म-सिद्धांत मनुष्य के विकास को पूर्णतः उसके ही प्रयत्नों पर छोड़ देता है और स्वयं मृत्यु भी प्रयत्न के क्रम-विकास में हस्तक्षेप नहीं करती।

—सी. राजगोपालाचार्य

स्वतंत्रता का घटक है—शुद्ध चैतन्य

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

'साधना का मूल प्रयोजन है कि आत्मा अपने स्वरूप में आ जाए, वह जाग जाए। जागरण की चिनगारी मिल जाए।'—'...और यही स्वतंत्रता का मूल्य है।'

—जिस स्वतंत्रता की आज सर्वाधिक चर्चा है और हर पंद्रह अगस्त को हम यह दिवस मनाते हैं, उसकी अपनी महत्ता भी है और उसे कभी कमतर नहीं माना जा सकता, पर स्वतंत्रता का एक दूसरा मूल्य भी हमारे जीवन में हो सकता है—प्रखर दार्शनिक-विचारक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस आलेख में उसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अपना ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है। स्वतंत्रता के प्रचलित अर्थ से हट कर जिस चैतन्य और आनंद की बात इस आलेख में स्पष्ट हुई है—उसका उद्घाटन यदि मनुष्य मात्र में हो जाए तो हम स्वतंत्रता का वास्तविक आनंद पा सकते हैं। इस दिशा में अग्रसर होने के लिए यह आलेख हमारा मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इसी उद्देश्य से स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर जैन भारती के पाठकों के लिए यह आलेख—

बहुत बार यह प्रश्न सामने आता है कि हम स्वतंत्र हैं या परतंत्र? हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं, या परतंत्र? हम कर्म का फल भोगने में स्वतंत्र हैं, या परतंत्र?

स्वतंत्रता और परतंत्रता का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। दोनों सापेक्ष कथन हैं। हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं। हम चैतन्यवान हैं। हमारा स्वभाव सभी द्रव्यों से विलक्षण है। किसी भी द्रव्य का स्वभाव चैतन्य नहीं है, हमारा स्वभाव चैतन्य है—इसलिए हम स्वतंत्र हैं। किंतु, चैतन्य का अनुभव जब-जब विस्मृत होता है, इस चैतन्य की आग पर जब-जब कोई राख आ जाती है, जब-जब यह जलती हुई आग उस राख से ढक जाती है—तब-तब हम परतंत्र हो जाते हैं। स्वतंत्रता और परतंत्रता का उत्तर सापेक्ष दृष्टि से ही दिया जा सकता है। इसका निरपेक्ष उत्तर नहीं हो सकता।

हमने कोई क्रिया की, कर्म किया, तब यह निश्चित है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होगी। ऐसी एक भी क्रिया नहीं है, जिसकी प्रतिक्रिया न हो। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रिया करने में आदमी स्वतंत्र है, किंतु प्रतिक्रिया में वह परतंत्र है। **कडेण मूढो पूणो तं करेई**—जो किया है, उससे मोह पैदा होता है—व्यक्ति मूढ़ हो जाता है और वह फिर उसे दोहराता है। एक बार आदमी कोई काम कर लेता है, दूसरी बार उस काम को दोहराना जरूरी हो जाता है, क्योंकि उसका संस्कार बन जाता है। दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर उस संस्कार के आधार पर वैसा करने की प्रेरणा मिलती है। वह हमारी मानसिक आदत बन जाती है। फिर उसको दोहराने का मन होता है। व्यक्ति मूढ़ बन कर उस क्रिया को दोहराता जाता है, करता जाता है। तब हम परतंत्र हो गए। हमने कुछ किया, एक संस्कार निर्मित हो गया, एक आदत बन गई—फिर वह करना ही पड़ेगा। यह परतंत्रता की बात है। तात्पर्य यह कि हम परतंत्र हैं, पर स्वतंत्र भी हैं। हमारी चैतन्य-शक्ति, हमारी संकल्प-

शक्ति इतनी प्रबल है कि वह यदि जाग जाए कि यह काम करना ही नहीं है, इतना दृढ़ संकल्प हो जाए तो फिर संस्कार कितना ही प्रबल हो, हम एक झटके में ही उसे तोड़ डाल सकते हैं।

अतः स्वतंत्रता और परतंत्रता—दोनों को सापेक्ष दृष्टि से ही समझा जा सकता है। एक आदमी नारियल, खजूर या ताड़ के वृक्ष पर चढ़ गया। चढ़ने में वह स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छा से ऊपर चढ़ गया। अब उतरने में वह स्वतंत्र नहीं है। क्यों? चढ़ने की एक क्रिया है। अब चढ़ गया तो उतरना भी पड़ेगा। चढ़ने में वह स्वतंत्र है, पर उतरने में परतंत्र है। अब उसे उतरना इसलिए पड़ेगा कि वह चढ़ गया। चढ़ने का परिणाम है—उतरना। उतरना कोई स्वतंत्र क्रिया नहीं है।

मोहम्मद साहब के एक शिष्य ने एक बार पूछा—'हम काम करने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र?'—मोहम्मद साहब ने कहा—'अपने बाएं पैर को उठाओ।'—उसने अपना बायां पैर ऊपर उठा लिया। फिर मोहम्मद साहब ने कहा—'अच्छा, अब अपने दाएं पैर को उठाओ।' —शिष्य असमंजस में पड़ गया। बायां पैर पहले से ही उठा हुआ है। अब दायां पैर ऊपर कैसे उठाया जाए? उसने कहा—'साहब! यह कैसे संभव हो सकता है कि मैं दायां पैर भी ऊपर उठा लूं?'—मोहम्मद साहब ने कहा—'एक पैर उठाने में तुम स्वतंत्र हो, दूसरा पैर उठाने में स्वतंत्र नहीं हो, परतंत्र हो।'

> दो पक्ष हैं। एक पक्ष है—स्वतंत्रता का और दूसरा पक्ष है—परतंत्रता का। चैतन्य की ज्योति सर्वथा लुप्त नहीं होती, इसलिए स्वतंत्रता की हमारी धारा भी सदा प्रवाहित रहती है। हम शरीर, कर्म और राग-द्वेष से बंधे हुए हैं, इसलिए परतंत्रता की धारा भी सतत प्रवाहित रहती है। हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्रता और परतंत्रता का संगम है। उसे किसी एक ही पक्ष में नहीं बांटा जा सकता। उसे निखालिस सोना नहीं बनाया जा सकता। सूर्य कितना ही प्रकाशवान हो, किंतु दिन और रात का भेद नहीं मिटाया जा सकता। कितने ही बादल छा जाएं, अंधकार छा जाए, वे सब सूर्य को ढंक दें—पर, दिन दिन रहेगा और रात रात। दिन और रात का भेद समाप्त नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता चलती है, तो परतंत्रता भी चलेगी। परतंत्रता चलती है, तो स्वतंत्रता भी चलेगी। स्वतंत्रता का घटक है—शुद्ध चैतन्य और परतंत्रता का घटक है—राग-द्वेष-युक्त चैतन्य।

स्वतंत्रता और परतंत्रता—दोनों सापेक्ष हैं। उन्हें निरपेक्ष समझना भूल है। आदमी अपने कर्तृत्व में स्वतंत्र है, पर परिणाम भोगने में परतंत्र है। कर्तृत्वकाल में हम स्वतंत्र हैं, पर परिणाम-काल में हमें परतंत्र होना पड़ता है। विकास करने में हम स्वतंत्र हैं। हमारा जितना विकास होता है, उसमें हमारा स्वतंत्र कर्तृत्व बोलता है। उसमें हम स्वतंत्र हैं।

किसी भी कर्म के द्वारा हमारा विकास नहीं होता। कर्म के द्वारा हमारे विकास का अवरोध होता है। आप सोचेंगे कि शुभ नामकर्म के द्वारा अच्छा फल मिलता है, अच्छा नाम होता है, पदार्थों की उपलब्धि होती है, यश मिलता है। पर, यह कोई आत्मा का विकास नहीं है। ये सब पौद्गलिक जगत में घटित होने वाली घटनाएं हैं। इनसे आत्मा का विकास नहीं होता। आत्मा का स्वभाव है—चैतन्य। आत्मा का स्वभाव है—आनंद। आत्मा का स्वभाव है—शक्ति। चैतन्य का विकास, आनंद का विकास, शक्ति का विकास—किसी भी कर्म के उदय से नहीं होता। कर्म इन सब प्रकार के विकासों को रोकता है, बाधा डालता है, अवरोध उत्पन्न करता है। विकास का मूल हेतु कोई भी पुद्गल नहीं बनता।

हमारे चैतन्य का विकास, हमारे आनंद का विकास, हमारी शक्ति का विकास और हमारा पूर्ण जागरण इसलिए हो पाता है कि हम स्वतंत्र हैं। हमारे स्वतंत्र होने का स्वयंभू प्रमाण है कि हमारा विकास हो रहा है और हमारा विकास इसलिए होता है कि हम स्वतंत्र हैं। यदि हम स्वतंत्र नहीं होते तो यह विकास कभी नहीं होता। कर्मों के उदय से बाधाएं उपस्थित होती रहती हैं। हमारा विकास कभी नहीं होता। विकास इसलिए होता है कि हमारी स्वतंत्र सत्ता है, हमारा स्वतंत्र उपादान है।

मिट्टी घड़ा बनती है। यह कोई कुंभकार की अंगुलियों का चमत्कार नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने का उपादान है। उसमें उपादान है, तभी वह घड़ा बनती है। इस निर्मिति में दूसरे-दूसरे अनेक निमित्त भी सहायक हो सकते हैं। परंतु मिट्टी का घड़े के रूप में परिवर्तित होने का मूल है—उपादान। उपादान को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। दूसरे-दूसरे साधन सहायक सामग्री बन सकते हैं, परंतु वे सब मिल कर भी उपादान को उत्पन्न नहीं कर सकते। उपादान को उत्पन्न करने की शक्ति किसी में नहीं है।

उपादान वही होता है, जो द्रव्य का घटक होता है। कर्म में यह शक्ति नहीं है कि वह आत्मा में ज्ञान के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, चैतन्य के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, आनंद के पर्यायों को उत्पन्न कर सके, शक्ति के पर्यायों को उत्पन्न कर सके। कर्म ये कभी नहीं कर सकते, क्योंकि ये सब कर्म के स्वभाव नहीं हैं। चैतन्य, आनंद और शक्ति—ये आत्मा के उपादान हैं। इसलिए आत्मा ही उनका घटक है। आत्मा में ही यह शक्ति है कि वह अपने पर्यायों को उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए उसका स्वतंत्र कर्तृत्व है, अबाधित कर्तृत्व है। यह हमारे स्वतंत्र कर्तृत्व का पक्ष है।

एक दूसरा पक्ष और है। आत्मा के साथ राग-द्वेष का परिणाम जुड़ा हुआ है। राग-द्वेष की धारा प्रवाहित है, इसलिए आत्मा के साथ परमाणुओं का संयोग भी होता है। परमाणु जुड़ते हैं, आत्मा को प्रभावित करते हैं। वे आत्मा के कार्य को प्रभावित करते हैं, आत्मा के कर्तृत्व को प्रभावित करते हैं। यह इसलिए होता है कि आत्मा के साथ शरीर का योग है। प्रभाव का आदि-बिंदु है—शरीर। हमारी परतंत्रता का आदि-बिंदु है—शरीर। आत्मा के साथ शरीर है, इसलिए हम परतंत्र हैं।

हम स्वतंत्र कहां हैं? शरीर है—इसलिए भोजन चाहिए। आत्मा को कभी भोजन की आवश्यकता ही नहीं है। उसे कभी भूख नहीं लगती। चैतन्य को कभी भूख नहीं लगती है। भूख लगती है—पुद्गल को, शरीर को। शरीर है—इसलिए भूख है। भूख है—इसलिए भोजन है। भूख है—इसलिए प्रवृत्ति का चक्र चलता है। यदि भूख न हो तो आदमी की सारी प्रवृत्तियां सिमट जाएं। एक भूख है, इसलिए आदमी को बहुत कुछ करना पड़ता है—व्यवसाय करना पड़ता है। धंधा करना पड़ता है, नौकरी करनी पड़ती है। न जाने क्या-क्या करना पड़ता है। आदमी रोटी के लिए, पेट की आग को बुझाने के लिए बहुत कुछ करता है। सबकुछ करता है।

शरीर है—इसलिए काम-वासना है। शरीर का सारा चक्र काम के द्वारा संचालित है। एक प्राणी दूसरे प्राणी को पैदा करता है। यह पैदा करने वाली शक्ति है—काम। आहार की वृत्ति है, काम-वासना की वृत्ति है—यह हमारी परतंत्रता है। इन सारी परतंत्रताओं में राग-द्वेष का चक्र चल रहा है।

पर, शुद्ध चैतन्य भी है—इसलिए हम स्वतंत्र भी हैं। और राग-द्वेष-युक्त चैतन्य है—इसलिए हम परतंत्र हैं।

दो पक्ष हैं। एक पक्ष है—स्वतंत्रता का और दूसरा पक्ष है—परतंत्रता का। चैतन्य की ज्योति सर्वथा लुप्त नहीं होती, इसलिए स्वतंत्रता की हमारी धारा भी सदा प्रवाहित रहती है। हम शरीर, कर्म और राग-द्वेष से बंधे हुए हैं, इसलिए परतंत्रता की धारा भी सतत प्रवाहित रहती है। हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्रता और परतंत्रता का संगम है। उसे किसी एक ही पक्ष में नहीं बांटा जा सकता। उसे निखालिस सोना नहीं बनाया जा सकता। सूर्य कितना ही प्रकाशवान हो, किंतु दिन और रात का भेद नहीं मिटाया जा सकता। कितने ही बादल छा जाएं, अंधकार छा जाए, वे सब सूर्य को ढंक दें—पर, दिन दिन रहेगा और रात रात। दिन और रात का भेद समाप्त नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता चलती है, तो परतंत्रता भी चलेगी। परतंत्रता चलती है, तो स्वतंत्रता भी चलेगी। स्वतंत्रता का घटक है—शुद्ध चैतन्य और परतंत्रता का घटक है—राग-द्वेष-युक्त चैतन्य।

प्रश्न होता है कि क्या जो कुछ भी घटित होता है, वह सब कर्म से नियंत्रित ही है? उसी का परिणाम मात्र है? यदि ऐसा है तो फिर किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। कोई झूठ बोलता है, कोई चोरी करता है, कोई डाका डालता है—तो यह सब करने वाले का दोष नहीं है, क्योंकि यह सब पूर्ववर्ती कर्म का परिणाम है। इसमें किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किसी पर चोट की और उसे यह समझाया कि भाई! यह तो तुम्हारे पूर्वार्जित कर्म का ही परिणाम है, कर्म का ही योग है—ऐसा कह कर चोट करने वाला बच सकता है। वह दोषी नहीं हो सकता। पूर्ववर्ती कर्म ही तो उससे ये सारी क्रियाएं करवा रहे हैं, तो फिर वह क्या करे? यह सारा भ्रम है। हर अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है, उससे बच निकलने का प्रयास करता है। वह अपने आपको निर्दोष मानता है। वह कह सकता है—मैंने कुछ भी नहीं किया। सबकुछ कर्म करवाता है। जैसा कर्म है, वैसा करना ही पड़ता है।

यह धारणा सही नहीं है कि जो कुछ घटित होता है, वह सब कर्म से ही होता है। व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र सत्ता भी है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं जो पहले के कर्मों से नियंत्रित नहीं होतीं।

स्थानांग सूत्र में रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाए गए हैं—

1. निरंतर बैठे रहना, 2. अहितकर भोजन करना, अति-भोजन करना, 3. अति निद्रा, 4. अति जागरण, 5. मन का निरोध करना, 6. प्रस्रवण का निरोध करना, 7. पंथगमन, 8. भोजन की प्रतिकूलता, और 9. काम-विकार। इन कारणों से रोग की उत्पत्ति हो सकती है। किंतु, इनमें एक भी कारण ऐसा नहीं है, जिसे हम पूर्व कर्म-कृत कह सकें। अधिक आहार से रोग पैदा होता है, अधिक नींद लेने से रोग पैदा होता है और अधिक जागरण से भी रोग पैदा होता है। आहार, नींद और जागरण—ये हमारे क्रिया-पक्ष हैं। ये किसी कर्म के उदय नहीं हैं। कोई भी कर्म इनमें काम नहीं करता। हमारा व्यवहार ही इनमें काम करता है। इन सब घटनाओं से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व-कर्म ही इनका घटक नहीं है। उत्तरवर्ती क्षण का कारण पूर्ववर्ती क्षण ही नहीं होता, वही उसका उत्तरदायी नहीं होता, उसका अपना स्वतंत्र भी कुछ है।

प्रश्न हो सकता है कि क्या रोग का होना किसी कर्म से संबंधित नहीं है? अकाल-मृत्यु का होना क्या किसी भी कर्म से संबंधित नहीं है? संबंधित है। हमें इसे समझना चाहिए कि घटनाएं कर्म के सहारे घटित नहीं होतीं। रोग होना एक घटना है। रोग हुआ। एक घटना घटित हुई। उसका कारण है—अमनोज्ञ भोजन। दूषित आटा या विष-मिश्रित पदार्थ मिला—रोग हो गया। बीमारी हो गई। इसे हम संयोग कहेंगे। रोग होना असातवेदनीय कर्म का उदय है। अहितकर भोजन करने से वह उदय में आ गया विपाक में आ गया किंतु, जो अहितकर भोजन खाया वह असातवेदनीय कर्म के उदय से नहीं खाया। इसे हम और स्पष्टता से समझें। यदि अहितकर भोजन असातवेदनीय कर्म के उदय से खाया गया हो, तो हम कह सकते हैं कि कर्म के कारण यह परिणाम भोगना पड़ा। किंतु संयोगवश अहितकर भोजन खाने में आ गया। उसे हम कर्म का परिणाम नहीं मान सकते। अहितकर भोजन करना और अहितकर भोजन करने से रोग होना—इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। अहितकर भोजन की घटना कर्म के कारण नहीं हुई, किंतु उस घटना के घटित होने के कारण कर्म का विपाक हो गया। विमान की दुर्घटना आयुष्य कर्म के कारण घटित नहीं हुई, किंतु विमान की दुर्घटना हुई—इसलिए आयुष्य कर्म की उदीरणा हो गई। आयुष्य कर्म की उदीरणा होना और विमान का दुर्घटनाग्रस्त होना—ये दो बातें हैं। इनका परस्पर संबंध नहीं है। विमान की दुर्घटना हुई, इसलिए आयुष्य समाप्त हो गया—यह संबंध हो सकता है, किंतु उससे पहले इस घटना के साथ आयुष्य कर्म का संबंध नहीं है।

प्रश्न होता है कि क्या ऐसा हो सकता है? क्या सैकड़ों आदमियों का आयुष्य एक साथ समाप्त हो सकता है? हां, ऐसा हो सकता है। आयुष्य कर्म के दो प्रकार हैं—सोपक्रम आयुष्य और निरुपक्रम आयुष्य। कुछेक कारणों से आयुष्य कर्म में परिवर्तन भी हो सकता है—वह है सोपक्रम आयुष्य। जहां कोई भी निमित्त काम नहीं देता, आयुष्य कर्म में परिवर्तन लाने में कोई निमित्त सक्षम नहीं होता—वह है निरुपक्रम आयुष्य। यह आयुष्य कर्म इतना शक्तिशाली होता है कि निमित्त का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसमें इतनी तीव्र ऊर्जा और शक्ति होती है कि सारे निमित्त नीचे रह जाते हैं, वह ऊपर तैरता रहता है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। आयुष्य का जितना कालमान होता है, उसके पूरा होने पर ही प्राणी की मृत्यु होती है, पहले-पीछे नहीं। इसमें किसी भी निमित्त से उस प्राणी की मृत्यु संभव नहीं होती। ऐसी घटनाएं घटित होती हैं, ऐसे निमित्त मिलते हैं कि एक साथ हजारों मनुष्य मर जाते हैं। यह सब सोपक्रम आयुष्य का खेल है। निमित्त से कर्म विपाक में आ जाता है।

असातवेदनीय कर्म का बंध हुआ। उसका परिणाम यह है कि वह व्यक्ति को प्रतिकूल संवेदन कराएगा। उसके विपाक से प्रतिकूल संवेदन होगा। प्रतिकूल संवेदन किस रूप में होगा—यह सब निमित्तों पर आधारित है। किस काल, देश, क्षेत्र में होगा—यह अनेक बातों पर आधारित है। सारी घटनाओं में द्रव्य, क्षेत्र और काल का प्रभाव रहता है। सभी प्रदेशों के आदमियों को असातवेदनीय कर्म को भुगतना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य का भौगोलिक और द्रव्यगत कारण भिन्न-भिन्न होता है। उसी के अनुसार कर्मों का विपाक भुगतना होता है। जहां भौगोलिक भिन्नता और द्रव्यगत भिन्नता आती है, वहां असातवेदनीय कर्म के भोगने में भी भिन्नता आ जाती है। लू लगने की बीमारी यदि असातवेदनीय कर्म के कारण ही हो तो यह क्यों होता है कि राजस्थान के आदमी को ही लू लगे और मद्रास वाले को न लगे। कर्म के क्षेत्र में तो यह पक्षपात नहीं होना चाहिए। कुछ लोग ईश्वर पर

पक्षपात का आरोप लगाते हैं कि ईश्वर ने एक को ऐसा बना दिया और एक को वैसा—फिर पक्षपात का वही आरोप कर्म पर लगाया जाएगा। किंतु, यह पक्षपात नहीं है। यह अंतर आता है—भौगोलिकता के कारण। लू लगना या न लगना कर्म के अधीन नहीं है, किंतु लू लगती है—इसके कारण असातवेदनीय कर्म का उदय हो जाता है। ठंडे देश का आदमी गोरा होगा, उष्ण देश का आदमी काला और कुछ देशों के आदमी उजले होंगे। गोरा होना, काला होना और उजला होना—यह नामकर्ण के कारण नहीं है, किंतु इसमें भौगोलिकता और प्रादेशिकता निमित्त है।

बहुत सारी घटनाएं ऐसी हैं—जिनके कारण कर्म का विपाक होता है, किंतु कर्म के विपाक के कारण ये घटनाएं घटित नहीं होतीं।

दो शब्द हैं—कर्म और नो-कर्म। नो-कर्म वह है जो कर्म तो नहीं है, किंतु कर्म का सहायक है। भौगोलिकता, वातावरण, पर्यावरण, परिस्थितियां—ये सारे नो-कर्म हैं। ये कर्म नहीं, कर्म के उदय में सहायक तत्त्व हैं।

हम यह तथ्य हृदयंगम कर लें कि प्रत्येक घटना कर्म से ही घटित नहीं होती। इसलिए हम पूर्णरूप से परतंत्र नहीं हैं। यदि प्रत्येक क्रिया कर्म से ही घटित होती—विमान की दुर्घटना हो, वह भी कर्म से। दो मोटरों की टकराहट हो, वह भी कर्म से। अतृप्ति हो, वह भी कर्म से। सारे प्राकृतिक प्रकोप हों, वे भी कर्म से—यदि ऐसा होता है, तो कर्म का वैसा ही साम्राज्य हो जाएगा, जैसे सारा साम्राज्य ईश्वर का माना जाता है। कर्म भी सर्व-शक्ति-संपन्न साम्राज्य हो जाएगा, कर्म ही सबकुछ हो जाएगा। फिर हम चाहे ईश्वर को मानें या कर्म को—कोई अंतर नहीं होगा। केवल नाम का अंतर होगा। किन्हीं लोगों ने सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता को ईश्वर कह दिया और किन्हीं ने सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता को कर्म कह दिया, पर सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कर्म सर्व-शक्ति-संपन्न सत्ता नहीं है। उसकी अपनी सीमा है। वह आत्मा पर प्रभाव डालता है, किंतु उसी आत्मा पर प्रभाव डलता है—जिसमें राग-द्वेष है। राग-द्वेष-रहित चेतना पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रभाव भी वह अपनी सीमा में ही डालता है। दूसरे क्षेत्रों में वह अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है। सीमित ही है उसकी सत्ता और सीमित ही उसका प्रभाव है।

इसलिए हम स्वतंत्र भी हैं। स्वतंत्र हैं—इसीलिए आवेगों को शांत करने की हमारी मनोवृत्ति है, कामना है। हम आवेगों को शांत कर सकते हैं, इसीलिए हमारी साधना है। यदि हम आवेगों को शांत नहीं कर सकते तो साधना व्यर्थ है। यदि हम यह मानते ही चले जाएं कि जैसा कर्म में लिखा है वही होगा, साधना लिखी है तो साधना आ जाएगी और झगड़ा करना लिखा होगा तो झगड़ा करेंगे—तब तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। जैसा लिखा है, वैसा होगा। किंतु, यह भ्रांति है।

साधना का मूल सूत्र यही है कि कर्म ही सबकुछ नहीं है। साधना का मूल प्रयोजन है कि आत्मा अपने स्वरूप में आ जाए, वह जाग जाए। जागरण की एक चिनगारी मिल जाए। बस, इतना पर्याप्त है। यह मार्ग मिल जाए तो फिर साधक बिना रोक-टोक आगे बढ़ सकता है, आत्मा को पूर्ण रूप से अनावृत करने में सक्षम हो सकता है। स्वतंत्रता का मूल्य यही है। ❖

लोग कहते हुए दिखाई देते हैं कि दूसरों को सुधारना, ज्ञान देना असंभव है—इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहने वाले स्वयं नीति का पालन नहीं करते; क्योंकि जो आदमी नीति का पालन करता है और लोभ में नहीं पड़ता, वह पहले तो अपने मन को स्थिर रखता है, वह स्वयं सन्मार्ग से विचलित नहीं होता और अपने कार्य से ही दूसरों पर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है, वे स्वयं जब तक नैतिक नियमों का पालन न करें तब तक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है? हम खुद तो मनमाना आचरण करें और पड़ोसी की अनीति के कारण उसके दोष निकालें तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है?

—मो. क. गांधी

स्वभावोक्ति : एक विमर्श

❑ डॉ. मथुरेशनंदन कुलश्रेष्ठ

हमारा नित्य-निरीक्षण इस बात को स्पष्ट करता है कि व्यक्ति-व्यक्ति में कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशेषताएं हैं कि जो हमें प्रत्येक को अलग-अलग रूप में पहचानने में सहायता करती हैं। हम राम और मोहन में से राम और मोहन को अलग-अलग इन्हीं अव्यक्त (निहित) विशेषताओं के कारण ही पहचान पाते हैं। व्यक्ति को यह स्वभाव अर्जित नहीं करना पड़ता। परंतु, व्यक्ति की कुछ विशेषताएं ऐसी भी होती हैं, जो होतीं तो पूर्णतः व्यक्तिगत हैं, परंतु वह उन्हें अपने शारीरिक संगठन या अन्य बाह्य कारणों द्वारा विकसित कर लेता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसको Temperament कह सकते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति-विशेष में Temperament के विकास का कारण शारीरिक होता है। 'शरीर' के अंदर सदा एक विशेष रासायनिक परिवर्तन होते रहने के कारण मनुष्य में एक विशेष प्रकार से अनुभव करने, एक विशेष प्रकार से इच्छा करने और चिंतन करने की स्थायी प्रवृत्ति हो जाती है। इस स्थायी प्रवृत्ति को स्वभाव (Temperament) कहते हैं। उमंग (Mood) एक अस्थायी मानसिक अवस्था है, जो शारीरिक अवस्था के कारण होती है, परंतु स्वभाव एक स्थायी मानसिक अवस्था है, जो शरीर के रासायनिक परिवर्तन के कारण निर्मित होती है। यह व्यक्ति की संपूर्ण जीवन-शैली का निर्माण करता है। यह मनुष्य के संवेग, विचार तथा व्यवसाय को एक खास दिशा की ओर मोड़ देता है। इसमें (स्वभाव में) तीनों मानसिक पहलुओं (संवेग, विचार तथा इच्छा) का समावेश रहता है। स्वभाव पर प्रणालीहीन ग्रंथियों (Ductless glands) का अमिट प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे ग्रंथियां आभ्यंतर स्वास्थ्य-रस को उत्पन्न करती हैं, जो रक्त के साथ मिल कर नाड़ी-मंडल और मस्तिष्क पर प्रभाव डालता है। इस प्रकार चुल्लिका ग्रंथि (Thyroid gland) व्यक्तियों के विभिन्न स्वभाव का निर्माण करती है।[1] एकांतप्रियता, चिड़चिड़ापन, हास्यप्रियता आदि वैयक्तिक विशेषताओं को हम अर्जित विशेषताओं के अंतर्गत रख सकते हैं।

❀

सभी फलों द्वारा सेवित और सभी फलों का देने वाला कर्म ही आत्मा है। यही कर्म भाग्य और स्वभाव की सृष्टि करता है।—यह कथन सीधे-सीधे मनुष्य-स्वभाव को ध्यान में रख कर किया गया है। यहां मनुष्य के स्वभाव को अर्जित और कर्म से उत्पन्न विशेषताओं का समानार्थक माना गया है। पूर्व-जन्म के कर्मों का संस्कार इस जन्म के स्वभाव का निर्माण करता है और इस जन्म के कर्म आगामी जन्म के स्वभाव का निर्माण करते हैं। यह शृंखला इसी प्रकार आगे चलती रहती है। तात्पर्य यह कि मानव-स्वभाव पर पूर्व-जन्म के संस्कारों का गहरा असर भारतीय विद्वान स्वीकार करते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराणकार' ने श्रीकृष्ण-खंड में इस जीवन में भी तपस्या द्वारा स्वभाव का अर्जन स्वीकार किया है। उसका कथन है—'सुदिन और दुर्दिन, सभी कर्म से उत्पन्न होते हैं। यह कर्म तप से साध्य होता है और स्वभाव अभ्यास से साध्य होता है।'
हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि पाश्चात्य विद्वान भी इस जन्म में अर्जित स्वभाव को स्वीकार करते हैं, परंतु वे पूर्व-जन्म के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते।

❀

मानव-स्वभाव का दूसरा पक्ष है—सांस्कृतिक या समूहगत। स्वभाव के इस पक्ष की विशेषताओं को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—निहित और अर्जित। अंग्रेजी बोलना किसी अंग्रेज की एक निहित समूहगत विशेषता है, क्योंकि विशिष्ट सामूहिक परिवेश में अंग्रेजी बोलना अव्यक्त रूप से ही आ जाता है। एक विशिष्ट संस्कृति में जन्म लेने के कारण व्यक्ति अनजाने में ही इन समूहगत विशेषताओं को स्वभावस्थ कर लेता है। ये विशेषताएं शारीरिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक—तीनों ही प्रकार की हो सकती हैं। 'तिरछी आंखें', नकपिच्चा, पीले रंग का 'चीना बच्चा' एक विशिष्ट संस्कृति की निहित विशेषताएं हैं, जो स्वभाव के अंतर्गत आती हैं। मंगोल के सिर की बनावट, अमेरिकन की लंबाई और गोरापन और अफ्रीकन का कालापन—ये सभी समूहगत स्वभाव के ऐसे उदाहरण हैं, जो व्यक्ति को जन्म के साथ ही प्राप्त होते हैं। संपूर्ण सांस्कृतिक विशेषताएं, कला, धर्म, विज्ञान और राजनीति आदि सभी इसी के अंतर्गत आते हैं। परंतु संस्कृतियों का भी विकास होता है। कबड्डी भारतीय जवानों को स्वभाव से ही प्रिय है और अंग्रेज को क्रिकेट। दोनों ही अर्जित सांस्कृतिक स्वभाव हैं। परंतु, भारत में क्रिकेट की लोकप्रियता और इंग्लैंड में कबड्डी की—एक सांस्कृतिक विकास है। पैंट पहनने का स्वभाव भारत के लिए एक अर्जित सांस्कृतिक स्वभाव है और महिलाओं का साड़ी पहनना रूस तथा इंग्लैंड के लिए। एक संस्कृति के स्वभाव से युक्त जब कोई व्यक्ति किसी अन्य संस्कृति के संपर्क में आता है तो वह कुछ-न-कुछ अर्जन करता है। यह अर्जन जब व्यक्तिशः व्यापक होता हैं, तो यह अर्जित वैशिष्ट्य संस्कृति के लिए अर्जित बन जाता है। संस्कृतियों के विकास का इतिहास इसी प्रकार निर्मित हुआ है। यहां एक बात पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है—क्या एक निष्क्रिय व्यक्ति प्रयत्न के अभाव में भी अपनी मूल सांस्कृतिक विशेषताओं से उत्पन्न स्वभाव वाला नहीं होता? होता है! परंतु, वही व्यक्ति जब प्रयत्न द्वारा अपनी प्रकृति को संस्कृति में ढालता है तो इस प्रकार अर्जित स्वभाव सांस्कृतिक रूप से अर्जित होगा या निहित? इसका निश्चित उत्तर यही है कि यह स्वभाव व्यक्ति की दृष्टि से तो अर्जित सांस्कृतिक स्वभाव है, जबकि संस्कृति की दृष्टि से निहित।

मानव-स्वभाव का तीसरा पक्ष है—मानव का सार्वभौमिक स्वभाव। मनुष्य का यह स्वभाव व्यक्ति, संस्कृति, देश और काल की सीमाओं से निरपेक्ष है। यह प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव है। इसी को विद्वानों ने Universal human या सार-रूप मनुष्य कहा है। वास्तव में यही मनुष्य का सार-रूप स्वभाव है जो व्यक्ति, संस्कृति या समूह से निरपेक्ष होने के कारण व्यापक रूप से स्वीकार्य मानव-स्वभाव है। भाववादी दार्शनिक तो इसे स्वीकार करते ही हैं, परंतु जॉन डेवी जैसे प्रगति-पद्धति के आचार्य भी इसे मान्यता देते हैं। मानव की मूल-प्रवृत्तियां इसके अंतर्गत आती हैं। सर्वमानव-व्याप्त स्वभाव की खोज में कुछ मूल प्रवृत्तियों का चिंतन करते-करते मनोवैज्ञानिकों ने किसी एक प्रवृत्ति को ही मानव की क्रियाओं का केंद्र सिद्ध करने का प्रयास किया है। फ्रायड ने सेक्स, ऐडगर ने ईगो तथा जुंग ने जीवनेच्छा को केंद्र सिद्ध किया। इस बात पर भी विचार किया गया कि मानव अपने मूल स्वभाव में प्रेम-प्रधान है या घृणा-प्रधान। श्री एम. एफ. ऐश्ले मांटेगू द्वारा लिखित 'Anthropology and Human Nature' के द्वितीय अध्याय—'Man and Human Nature'—में इस विषय का प्रतिपादन बड़े ही व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। तात्पर्य यह कि मनुष्य भले ही मूल रूप में अच्छा हो या बुरा, भले ही उसकी क्रियाओं का केंद्र सेक्स हो या ईगो, या जीवनेच्छा—यह सभी को स्वीकार्य है कि मानव का एक सार्वभौमिक सार-स्वभाव होता है।

परंतु सर्वाधिक मतभेद का विषय यह है कि क्या यह मूल स्वभाव या Instincts भी परिवर्तनशील होती हैं? कार्ल मार्क्स तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सभी समर्थक इस परिवर्तन को स्पष्ट रूप से बल देकर स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह कि वे मनुष्य की विशेषताओं का सार्वभौमिक रूप मानने के लिए तो तैयार हैं, परंतु सार्वकालिक नहीं। इस विषय में श्री रामविलास शर्मा ने लिखा है—'यही नहीं कि साहित्य की विषय-वस्तु नौ-रसों के सांचे में ढलने से इंकार करती है, वरन भाववादी विचारधारा के प्रतिकूल मनुष्य के विचार और भावनाएं भी परिवर्तनशील हैं। जिन्हें हम मनुष्य की आदिम वृत्तियां—'इंस्टिक्ट्स' कहते हैं, वे भी विकासमान हैं, उनका भी इतिहास है। अंतर इतना ही है कि मनुष्य की कुछ वृत्तियों में इतना धीरे परिवर्तन होता है कि हम उन्हें

अपरिवर्तनशील कहते हैं, जबकि दूसरी वृत्तियां और दूसरी भावनाएं जल्दी ही बदलती हैं। मिसाल के लिए मनुष्य में व्यक्ति या समूह की भावना का विकास या ह्रास व्यक्तिगत संपत्ति के जन्म, विकास और ह्रास के साथ जुड़ा हुआ है। वर्ग-युक्त समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ की जिन वृत्तियों को मनोविज्ञान के पंडित शाश्वत मानते हैं, वर्गहीन समाज में उन्हीं का अभाव दिखाई देता है।'[2]

निस्संदेह इस बात का निपटारा कि मानव की मूल वृत्तियों में परिवर्तन होता है या नहीं, यह एक जटिल प्रश्न है। इसका सीधा संबंध दर्शन के मूल प्रश्न Universal ideas और वैयक्तिक सत्ता से है। हमारा अपना विचार है कि मनुष्य के स्वभाव में दिखाई पड़ने वाला परिवर्तन मनुष्य-स्वभाव का सांस्कृतिक पक्ष है, सार्वकालिक या सार्वभौमिक नहीं। सार्वकालिक और सार्वभौमिक स्वरूप तो मनुष्य की अपरिवर्तनीय विशेषताओं का ही संकलन है।

इस संबंध में भारतीय वाङ्मय में प्राप्त विचार हमारी बात की पुष्टि करते हैं। भारतीय ग्रंथों में स्वभाव की व्याख्या बहुजन्मवाद के सिद्धांतों के संदर्भ में की गई है। 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' के प्रकृति खंड में स्वभाव के बारे में कहा गया है—'वचन, बुद्धि, स्वभाव, चरित्र, आचार और व्यवहार से ही मनुष्य का हृदय जाना जा सकता है। जीव, जो लोक के कर्म के वशीभूत होकर पूर्वजन्म में जो-कुछ करता है, जन्म-जन्मांतर तक अपने कर्मों का फल भोगता रहता है। कुछ का कहना है कि यह कर्म स्वतः करने पर ही होता है, कुछ इसे दैवकृत मानते हैं और कुछ स्वभाव द्वारा किया गया। इस प्रकार वेद-वेदांगों में पारंगत लोग तीन प्रकार के मत रखते हैं। पुरुष स्वयं कर्म को पैदा करने वाला है। वही कर्म भाग्य का कारण होता है और मनुष्य का स्वभाव पूर्व-कर्मों द्वारा ही उत्पन्न होता है। सभी फलों द्वारा सेवित और सभी फलों का देने वाला कर्म ही आत्मा है। यही कर्म भाग्य और स्वभाव की सृष्टि करता है।'[3] यह कथन सीधे-सीधे मनुष्य-स्वभाव को ध्यान में रख कर किया गया है। यहां मनुष्य के स्वभाव को अर्जित और कर्म से उत्पन्न विशेषताओं का समानार्थक माना गया है। पूर्व-जन्म के कर्मों का संस्कार इस जन्म के स्वभाव का निर्माण करता है और इस जन्म के कर्म आगामी जन्म के स्वभाव का निर्माण करते हैं। यह शृंखला इसी प्रकार आगे चलती रहती है। तात्पर्य यह कि मानव-स्वभाव पर पूर्व-जन्म के संस्कारों का गहरा असर भारतीय विद्वान स्वीकार करते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराणकार' ने श्रीकृष्ण-खंड में इस जीवन में भी तपस्या द्वारा स्वभाव का अर्जन स्वीकार किया है। उसका कथन है—'सुदिन और दुर्दिन, सभी कर्म से उत्पन्न होते हैं। यह कर्म तप से साध्य होता है और स्वभाव अभ्यास से साध्य होता है।'[4] हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि पाश्चात्य विद्वान भी इस जन्म में अर्जित स्वभाव को स्वीकार करते हैं, परंतु वे पूर्व-जन्म के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते। इसी कारण Universal man पर विचार करते हुए भी उन्होंने कभी इस दृष्टि से विचार करने का प्रयास नहीं किया।

'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' कर्म से स्वभाव की उत्पत्ति मानता है, परंतु गीताकार एकदम स्पष्ट रूप में स्वभाव से कर्म की उत्पत्ति स्वीकार करता है। उसके अनुसार मानसिक वृत्ति या स्वभाव के आधार पर ही वर्ण का निर्धारण होता है। व्यक्ति स्वभाव से बंधा होकर कर्म करने को बाध्य होता है। कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।।18.41।।

'हे परंतप! ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण भी कर्म-स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार विभक्त किए गए हैं, अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के संस्कार-रूप स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार विभक्त किए गए हैं।'

श्रेयन्स्वर्भोविगुणः परधर्मात्स्वानुष्ठितात्।
स्वभाव नियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।18.47।।

'अच्छी तरह आचरण किए हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्म-रूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।'

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।18.60।।

'हे अर्जुन, जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता, उसको भी तू अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बंधा हुआ परवश करेगा।'

उपर्युक्त सभी उद्धरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि गीताकार स्वभाव के अनुसार कर्म की कृति का

सिद्धांत मानता है। परंतु, गीताकार का मंतव्य 'मांडूक्योपनिषद्' का विरोधी न होकर, उसका समर्थक ही है। वह जिस स्वभाव को स्वीकार करता है, वह स्वभाव भी पूर्वजन्मों का संस्कार है। उन्हीं के फल-रूप में इस जन्म का स्वभाव निश्चित होता है और मनुष्य उनके अनुसार कर्म करने को बाध्य होता है। उपर्युक्त दोनों ही ग्रंथ पूर्व-जन्म की पूर्व-स्वीकृति देकर ही इन सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। यह सिद्धांत मनुष्य-स्वभाव को अर्जित मानता है, परंतु इस अर्जन में पूर्वजन्म को उत्तरदायी ठहराया गया है। इस प्रतिपादन से कहीं भी Universal human की कल्पना को योग नहीं मिलता। आज का वैज्ञानिक युग इस पूर्वजन्म के सिद्धांत को ही स्वीकार नहीं करता। तो क्या दोनों बातों का कहीं समन्वय संभव है? पूर्वजन्म के सिद्धांत को स्वीकार किया जाए या न किया जाए, परंतु इतना तो सरलता से माना जा सकता है कि भारतीय विद्वानों और चिंतकों ने कम-से-कम इस बात का तो स्पष्ट अनुभव किया ही था कि मनुष्य-स्वभाव में अनेक ऐसी बातें होती हैं, जिनको वह इस जन्म में अर्जित नहीं करता। इस बात को पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं। तो फिर मानव-स्वभाव के इस पक्ष की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर हमें जुंग के 'आद्य-बिंब' के विवेचन में प्राप्त होता है। उसके अनुसार ये विशेषताएं पूर्वजन्म की न होकर आनुवंशिक होती हैं। निश्चित ही संपूर्ण मानव-समाज में कुछ ऐसी आनुवंशिक विशेषताएं मनोविज्ञान के आधार पर ढूंढ़ी जा सकती हैं, जो सभी मनुष्यों में सर्वमान्य होने के कारण सभी मनुष्यों को एकमानव-वंशीय सिद्ध करती हैं। मनोविज्ञान के आधार पर यही Universal human being है।

दिवास्वप्न, निद्रास्वप्न तथा काव्य-बिंबों का विवेचन करते हुए मनोविश्लेषणशास्त्र के आचार्य जुंग ने आद्य-बिंबों के बारे में लिखा है—'सामूहिक अचेतन, चेतना का एक अंग है। वैयक्तिक अचेतन से इसका अभावात्मक भेद यह है कि उसकी तरह इसका निर्माण व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर नहीं होता और इसीलिए यह व्यक्तिगत संपत्ति भी नहीं होता। व्यक्तिगत अचेतन का निर्माण जहां अनिवार्यतः ऐसी सामग्री से होता है, जो किसी समय चेतन अनुभव का विषय थी, किंतु अब विस्मृत या दमित होकर चेतन मन से विलुप्त हो गई है, वहां सामूहिक अचेतन की सामग्री चेतन मन का विषय और व्यक्तिगत संपत्ति कभी नहीं बनती, वरन पूर्णतः आनुवंशिकता पर ही निर्भर करती है। व्यक्तिगत अचेतन में अधिकतर ग्रंथियां ही रहती हैं, जबकि सामूहिक अचेतन का निर्माण केवल आद्य-बिंबों से होता है।'

'आद्य-बिंब की धारणा से, जो सामूहिक अचेतन की धारणा के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है, मानव-चेतना में ऐसे अनेक बिंब या रूप के अस्तित्व का संकेत मिलता है, जो सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं। पुराण-विद्या-संबंधी अनुसंधान में इनको प्रयोजन के नाम से अभिहित किया जाता है। आदिमानव-विषयक मनोविज्ञान में ये लेवी ब्रूल द्वारा प्रतिपादित 'सामूहिक प्रतिच्छवियों' की धारणा के समवर्ती हैं और तुलनात्मक धर्मशास्त्र के क्षेत्र में ह्यूबर्ट और मौस ने इन्हें कल्पना की कोटियां कहा है। आज से बहुत पहले ओडाल्फ बास्टिआन ने इन्हें प्राथमिक अथवा 'आदिम विचार' का नाम दिया है।'

'अतः मेरी स्थापना यह है : हमारी प्रत्यक्ष चेतना के अतिरिक्त जो पूर्णतः वैयक्तिक है और जिसे हम एकमात्र आनुभाविक चेतना मानते हैं, चेतना का एक दूसरा स्तर भी है—जो सामूहिक, सार्वजनिक तथा अवैयक्तिक होता है और जो सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहता है। यह सामूहिक अचेतन व्यक्तिगत रूप में विकसित न होकर आनुवंशिक रूप में प्राप्त होता है। यद्यपि ये बिंब गौण या अप्रत्यक्ष रूप से ही चेतन अनुभव का विषय बनते हैं, फिर भी इनसे अंतश्चेतना में विद्यमान सामग्री (अनुभव-संस्कारों) को निश्चित रूपाकर धारण करने में सहायता मिलती है।'[5]

मनोविज्ञान के आधार पर प्रस्तुत यह विवेचन मानव-स्वभाव के Universal स्वरूप की समस्या पर बहुत-कुछ समाधानकारक प्रकाश डालता है। परंतु, मानव या वस्तुओं के Universal स्वरूप के विषय में प्लेटो से लेकर आज तक के दार्शनिकों में ही मतभेद नहीं रहा, वरन भारत में भी मीमांसा-दर्शन के प्रसंग में इस प्रश्न पर गहरे तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। Universality का यह प्रश्न केवल मानव तक ही सीमित न रह कर दर्शन के क्षेत्र में समस्त वस्तुओं से संबंधित है। परंतु जुंग का विवेचन

हमारा समाधान करता है, अतः हम उसी को सत्य मान कर चलेंगे।

इस तरह मानव-स्वभाव की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं—'मनुष्य का स्वभाव उसकी निहित नस्लगत और निहित तथा अर्जित वैयक्तिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का समुच्चय है।' ❖

संदर्भ

1. मनोविज्ञान, ले. जगदानंद पांडेय, पृ. 365
2. लोकजीवन और साहित्य, ले. रामविलास शर्मा, पृ. 12
3. वचनेषु च, बुद्धौ च, स्वभावे च चरित्रतः।
   आचारे व्यवहारे च, ज्ञायते हृदयं नृणाम्।।
   लोकाः कर्मवशीभूतस्तत्कर्म यत्कृत पुरा।
   स्व कर्मणा फलं भुंक्ते जन्तुर्जन्मनि जन्मनि।।
   केचिद्वदन्तीति भवेत् स्वकृतेन च कर्मणा।
   केचिद्वदन्ति देवेन स्वभावेनेति केचन।।
   त्रिविधाश्च मता वेदे, वेद वेदाङ्ग पारगाः।
   स्वयञ्च कर्म जनकस्तत् कर्म्मदेव कारणम्।।
   स एव आत्मा सर्व सेव्यः सर्वेषाञ्च फलप्रदः।
   स च सृजति दैवञ्च स्वभावं कर्म एव च।।
   —ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, प्रकृति खंड, 57।21-28।31।41
4. सुदिनं दुर्दिनं चैव सर्वं कर्मोद्भवे भवेत्।
   तत्कर्म तपसा साध्यं कर्मणा च शुभाशुभं।
   तपः स्वभावः साध्यं च स्वभावोऽभ्यासतो भवेत्।
   —वही, श्रीकृष्ण-खंड, 43।51।52
5. दि आर्किटाइप्स एंड दि कलैक्टिव अनकांशस, अनुवादक : हल, पृ. 42-43 ❖❖

(समाप्त)

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **जैन भारती** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **जैन भारती** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती
पढ़ें, सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

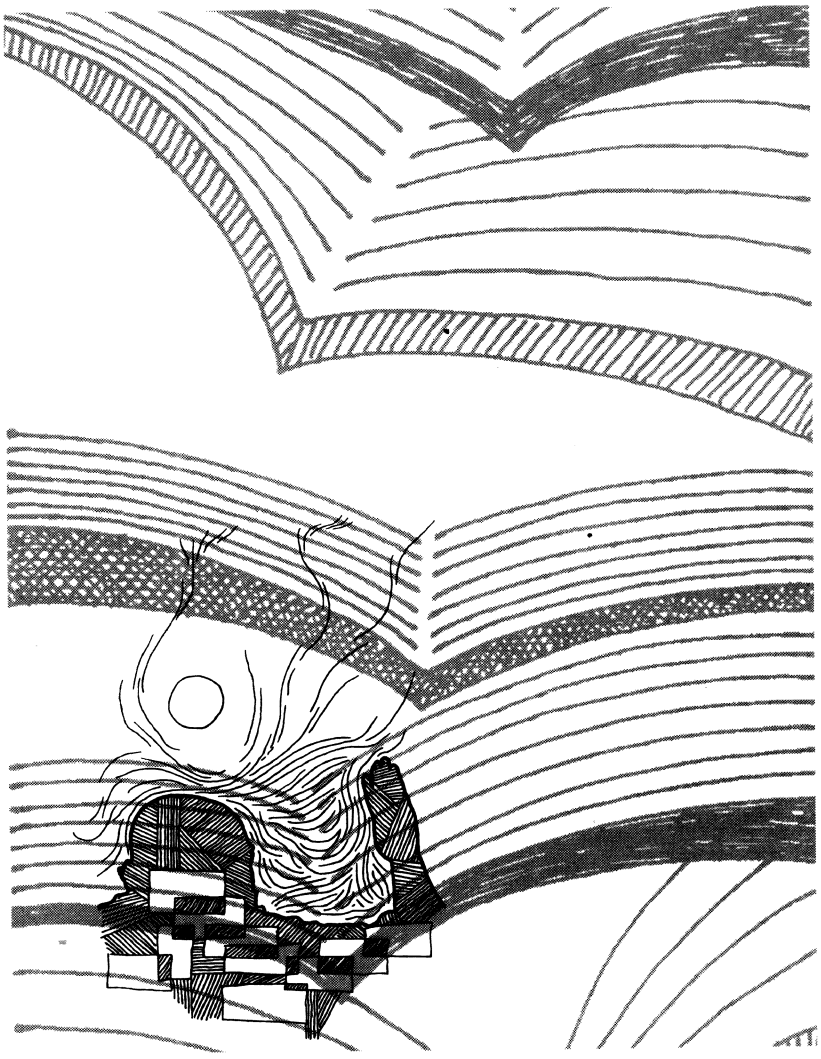

अनुभूति

जिस समय को मनुष्य रचता है, उसे वह विसर्जित भी करना चाहता है। अपने बनाए समय के वह पार जाना चाहता है—उसकी सीमा का अतिक्रमण करना चाहता है। समय में हर पल धंसे मनुष्य में ही इच्छा होती है कि वह समयातीत हो सके। 'जो है' की संरचना से वह 'जो नहीं है' के व्योम में जाना चाहता है। वह जानता है कि समय का अंत है, सीमा है—वह अनंत में, असीम के साथ होना चाहता है। कलाएं, और साहित्य भी, मनुष्य को इसी का अवसर और अवकाश देती है। वह ऐतिहासिक और सामाजिक समय से परे भी एक दूसरा समय रचती है—समानांतर समय, समयांतर प्रतिसमय। अगर हम न पहचान सकेंगे और सिर्फ उनकी सामाजिक-ऐतिहासिक नियति पर ही अपना ध्यान केंद्रित किए रहेंगे—जैसा कि इन दिनों अकसर होता रहता है—तो मनुष्य को साहित्य या कलाएं क्यों चाहिए, इस प्रश्न का हम पूरा उत्तर पाने में असमर्थ रहेंगे। ऐसा करना सचाई से पलायन नहीं, उसमें गहरे रमकर हिस्सेदारी करना है। यह समाज की उपेक्षा नहीं, बल्कि मनुष्य की आध्यात्मिक आकांक्षा को पहचान कर उसकी सामाजिकता को व्यापक और सघन करते हुए उसे दरअसल अधिक सामाजिक बनाना है। यह मनुष्य को मनुष्य और समय-केंद्रित नैतिकता से मुक्त कर बड़ी नैतिकता में शामिल करना है।

—अशोक वाजपेयी

निर्वाण : भाद्रपद कृष्णा द्वादशी : 17 अगस्त

संदर्भ : तेरापंथ की ढाई शती

❋ जयाचार्यश्री

वैचारिक स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के समन्वयक

❑ साध्वी विमलप्रज्ञा

❝

उन्होंने जो भी परिवर्तन किया, डंडे के बल पर नहीं किया—हृदय परिवर्तन के द्वारा किया। उनके मनोबल और धृतिबल ने हर असंभव कार्य को संभव बना दिया। ऊबड़-खाबड़ मार्ग को राजमार्ग में बदल दिया। उनकी विकास-यात्रा का राज था—उनका हिमालयी संकल्प। जयाचार्यश्री के जीवन से जुड़ी हर घटना के पीछे उनका मानसिक-बल बोल रहा है। किसी भी कार्य को करते समय वे न भयभीत होते, न आशंका का कुहरा उनके मनोबल को कमजोर बनाता और न वे साधन-सामग्री की प्रतीक्षा करते। उन्होंने जिस कार्य को हाथ में लिया, उसे पूर्णता तक पहुंचा दिया। उनकी लेखनी ने साढ़े तीन लाख पद्य-प्रमाण रचनाओं से संघ की साहित्य संपदा को समृद्ध किया। वे जैसे-जैसे आगे बढ़े, एक आलोक पुंज उनके आगे-आगे बढ़ता गया। चिंतन के दरवाजे खुलते गए। विकास की दिशाएं उद्घाटित होती चली गईं।

❞

रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो ही रही थी और रात भर की प्रतीक्षा के बाद आकाश थोड़ा खुल गया था। अंतिम यात्रा प्रारंभ हो गई थी। इक्यावन खंडी देव विमानोपम-विमान में जयाचार्यश्री के पार्थिव शरीर को परिस्थापित किया गया था। स्वर्णकलश और ध्वजाओं से परिमंडित वैकुंठी जनता के कंधों पर थी। राजकीय लवाजमे के साथ जौहरी बाजार होते हुए यात्रा आगे बढ़ रही थी। जय-ध्वनि करते हुए हजारों-हजारों लोग ज्यों ही त्रिपोलिया राजभवन के पास पहुंचे थे कि स्वयं महारानी चांदकंवर साहिबा ने इस यात्रा का अवलोकन किया। भव्य वैकुंठी पर विराजमान दिव्यात्मा के दर्शन किए। धीरे-धीरे बढ़ती हुई यह यात्रा अजमेरी गेट तक पहुंची। मार्ग में एक ओर राजमाता की तरफ से, तो दूसरी ओर समाज की ओर से रुपयों की उछाल हो रही थी। वहीं पर अब्दुल गफ्फार रंगरेज की दूकान थी। दूकान खपरैल से बनी थी। दोनों ओर से फेंके जा रहे कलदार सिक्के उन खपरैल पर पड़ रहे थे। खपरैल कुछ कमजोर था, इसलिए कुछ टूट भी गया। अब्दुल गफ्फार को कुछ बुरा लगा। थोड़ा गुस्सा भी आ गया। बढ़ती हुई यह यात्रा अपने लक्ष्य के निकट पहुंच गई। आकाश में पुनः बादल घिर आए। कब वर्षा आ जाए, यह जान अब्दुल गफ्फार खपरैलों को ठीक करने के लिए ऊपर चढ़ा, तो उसे खपरैलों में से दो सौ रुपये प्राप्त हुए। उसकी भावधारा बदल गई। वह अपने आप को रोक नहीं सका। दौड़ता हुआ चिता स्थल तक पहुंच गया। उच्च स्वर से कहने लगा—

मरकर भी तुमने यह नजमा दिखाया
वाह रे वाह जींदे जीता! तुम्हारा क्या कहना!

यह घटना श्रुतानुश्रुत है, लेकिन अब्दुल गफ्फार को यह शब्दावली इस बात का संकेत करती है कि जिस व्यक्ति ने मरने बाद यह नजमा दिखा दिया, जीवित रह कर उस व्यक्ति ने न जाने क्या-क्या किया होगा!

वे एक अलौकिक पुरुष थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की व्याख्या के अनुसार—मर्यादा, व्यवस्था, सामुदायिक चेतना, कृतज्ञता, अध्यात्म-योग, ध्यान, साधना, स्वाध्याय-योग, समर्पण और भक्ति—इन नौ धातुओं से बनी हुई प्रतिमा का नाम है—जयाचार्य। इस व्याख्या को आधार मान कर जब जयाचार्यश्री को पढ़ने का प्रयत्न किया तो उनके अनेक रूप उभर कर मेरे सामने आ गए।

वे कभी समर्पण के शिखर पर आरोहण करते हुए दिखाई देते हैं, तो कभी तपस्या और ध्यान से अपने आपको साधते हुए दिखाई देते हैं। कहीं प्रखर वक्ता के रूप में उनसे मुलाकात होती है तो कहीं उनका कवि-रूप मुखर होकर सामने आता है। एक ओर उनकी विनम्रता के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर संघहित के लिए गुरुचरणों में अपना विनम्र निवेदन करते हुए दिखाई देते हैं। कभी यह व्यक्ति कवि-रूप में श्रुतसागर में अवगाहन कर दिव्य रत्नों को बटोरते हुए दिखाई देता है, तो कभी दिव्य आत्माओं के साथ बातचीत करते हुए। कभी वे आहार का संविभाग, श्रम का संविभाग और पुस्तकों के संघीकरण के द्वारा संघ को आश्वस्त करते हुए दिखाई देते हैं, तो कभी संघर्षों को झेलते हुए, विरोधों को नकारते हुए यह सिद्ध करते हुए नजर आते हैं कि धृतिबल के द्वारा शिखरीय ऊंचाइयों तक पहुंचा जा सकता है।

श्रीमद् जयाचार्यश्री का युग तेरापंथ के इतिहास का एक स्वर्णिम युग रहा है। विकास के हर चौराहे पर उनका कर्तृत्व मुखर होकर सामने आता है। उन्होंने संघ की निर्मल धरा पर नए स्वस्तिक उकेरे। अनेक नए प्रतिमान खींचे।

मन में एक जिज्ञासा उभरती है कि जयाचार्यश्री ने इतने कार्य कैसे कर लिए? आखिरकार वे कौनसे गुर हैं कि जिससे वे विकास के शिखर तक पहुंच गए? भाष्यकार के शब्दों में समाधान मिलता है। निशीथ भाष्य में शरीरबल और मनोबल के आधार पर चार विकल्प बताए हैं—1. संहनन संपन्न हैं—धृति संपन्न हैं, 2. संहनन संपन्न हैं—धृति संपन्न नहीं हैं, 3. संहनन संपन्न नहीं हैं—धृति संपन्न हैं, 4. संहनन संपन्न नहीं हैं—धृति सपन्न नहीं है। प्रथम भांगका वाला व्यक्ति निश्चित ही अपने संकल्प को पूर्णता तक पहुंचा सकता है। इस संदर्भ में जब हम जयाचार्यश्री के जीवन-दर्शन की यात्रा करते हैं तो यह सत्य सामने आता है कि उन्होंने अपने मनोबल से हर संकल्प पूर्ण किया। साथ ही साथ उनके जीवन के अनेक प्रसंग उनके शारीरिक बल को भी उजागर करते हैं। संवत 1907 में बीदासर से बीकानेर के लिए अल्प समय में कठिन पद-विहार करना उनके मनोबल और गुरु आज्ञा की दृढ़-पालना की पुष्टि करता है। यह यात्रा प्राणलेवा यात्रा थी। आषाढ़ का महीना, भयंकर गर्मी, चिलचिलाती धूप, रेगिस्तानी आंधियां, झुलसाने वाली लू—जहां एक ओर उनके मनोबल को प्रकट करती है, तो दूसरी ओर शरीरबल को भी प्रकाशित करती है। लगता तो यह है कि उनके मानसिक बल के आगे शारीरिक बल बौना पड़ गया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि व्यक्ति मनोबल के सहारे हर ऊंचाई को छू सकता है।

जयाचार्यश्री का युग मनोबल के विकास की दृष्टि से स्वर्णिम युग था। दूसरी ओर साधु-साध्वियों के मनोबल को बढ़ाने की दृष्टि से भी वह युग स्वर्णिम युग था। उन्होंने अपने मनोबल से ही अनेक उपलब्धियों को हासिल किया। जिस प्रकार आग की छोटी और पतली लौ पर्याप्त उष्मा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती, उसी प्रकार बीमार इच्छा-शक्ति और मुर्दा मानसिकता वाला व्यक्ति कोई नया काम नहीं कर सकता। न ही वह अपने संकल्प को पूर्णता तक ले जा सकता। जो व्यक्ति नए पथ का निर्माण करता है, उसे हर कदम पर कठिनाइयों से मुकाबला करना पड़ता है। आशंकाएं उसके कदम-कदम पर मुंह बाए खड़ी मिलती हैं और संघर्ष उसके मार्ग में अवरोध बनकर खड़े हो जाते हैं। लेकिन, युगांतरकारी के चरण आगे से आगे बढ़ते चले जाते हैं। एक क्षण के लिए भी मनोबल विचलित नहीं होता।

जयाचार्यश्री एक शक्ति-संपन्न आचार्य थे। उन्होंने आचार्यश्री भिक्षु के अनुशासन को एक नया आयाम दिया। अनुशासन के क्षेत्र में परिवर्तन और परिवर्द्धन किया। गुण विशुद्धि करने वाले अट्ठाईस मर्यादा-सूत्रों का निर्माण किया। लेकिन, बिना आंतरिक रूपांतरण के कोई व्यवस्था सफल नहीं हो सकती। इसलिए सबसे पहले उन्होंने साधु-साध्वियों को प्रेरणा-प्रोत्साहन देकर

उनके मनोबल को जगाया। अपनी विनम्रता, मृदुता और उदारता से सब के दिलों को जीता। सबको धृति का पाठ पढ़ाया। सहिष्णुता का सूत्र सिखाया, जिससे उनका अनुशासन स्वतः फलित हो गया। उन्होंने जिन मर्यादा-सूत्रों का निर्माण किया, उन मर्यादाओं को साधु-साध्वियों की मज्जा तक पहुंचाने का एक नया उपक्रम शुरू कर दिया। प्रतिदिन मर्यादा-सूत्रों का वाचन किया जाना है—पौष कृष्णा पंचमी को यह क्रम प्रारंभ हुआ, जो लंबे समय तक चला। जब लगा कि साधु-साध्वियों के अंतर्मन में मर्यादा, अनुशासन और व्यवस्था के संस्कार पुष्ट हो गए हैं, तब सप्ताह में दो बार वाचन होने लगा। यह व्यवस्था तेरापंथ को अनुशासित और संगठित करने में अत्यंत कारगर सिद्ध हुई।

तेरापंथ की संघीय व्यवस्था की प्राण-प्रतिष्ठा में जयाचार्यश्री के चिंतन और पराक्रम का महान अवदान है। उन्होंने अनुशासन की नींव को मजबूत बनाने के लिए एक ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मूल्य दिया, वहीं सामाजिक नियंत्रण को भी बनाए रखा। एक ओर वैचारिक स्वतंत्रता को मान्यता दी, तो दूसरी ओर उसे स्वयं की सीमाओं से भी बांधे रखा। अनुशासन को प्रतिष्ठित करने के लिए सहिष्णुता के संस्कारों को पुष्ट बनाया। अप्रतिबद्धता के विचारों को जीवित किया। ऐसी उर्वरा धरती पर उन्होंने संघ को दीर्घजीवी बनाने वाली व्यवस्थाओं में परिवर्तन और परिवर्द्धन किया। परिवर्तन के कुछ बिंदु हैं—

1. शिष्यों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का समापन।
2. आहार का संविभाग।
3. श्रम का संविभाग।
4. पुस्तकों का संघीकरण।

श्रीमद् जयाचार्यश्री ने देखा कि जब सारे शिष्य आचार्य की आज्ञा में हैं, तब उन पर व्यक्तिगत स्वामित्व क्यों? व्यक्तिगत स्वामित्व संगठन के लिए बहुत बड़ा खतरा है। सामुदायिक नियंत्रण के बिना परिवर्तन संभव नहीं है। इस चिंतन ने नई व्यवस्था को जन्म दिया। शिष्यों पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर संघीय व्यवस्था का सूत्रपात किया। उस समय साध्वियों के केवल दस वर्ग थे। उनमें किसी में दस, किसी में बारह, किसी में तीन-चार साध्विया थीं। जयाचार्यश्री ने साध्वीप्रमुखा सरदारांजी के सहयोग से साध्वियों के नए तेईस वर्ग बना कर नई व्यवस्था-प्रणाली का प्रारंभ किया। यह परिवर्तन उनके हृदय को जीत कर किया। उनके धृतिबल और मनोबल को कमजोर नहीं होने दिया। इस व्यवस्था के प्रारंभ होने से उन्होंने साध्वियों को आश्वस्त और विश्वस्त कर दिया।

इसी तरह जयाचार्यश्री ने देखा कि गोचरी में जो आहार आता है, उसमें प्राथमिकता संतों को दी जाती है और शेष बचा हुआ आहार साध्वियों को दिया जाता है। उन्होंने इस दिशा में समान संविभाग की व्यवस्था दी। इस व्यवस्था को हर व्यक्ति के हृदय में उतारने के लिए संविभाग के गुण और असंविभाग के अवगुण बताने वाला गीत रचा। **टहुका**—जिसका नाम था। यह गीत आहार के समय सुनाया जाता। बार-बार सुनने से यह बात संस्कारगत हो गई।

जयाचार्यश्री के समय समुच्चय के कार्यों की कोई व्यवस्था नहीं थी। उनकी दीर्घदर्शी दृष्टि ने देखा कि बिना व्यवस्था के यह बात भविष्य में समस्या बन सकती है। उन्होंने समुच्चय के कार्यों को सभी साधु-साध्वियों के लिए अनिवार्य सेवा के साथ जोड़ दिया। साधु-साध्वी दीक्षा क्रम से समुच्चय के कार्यों को अच्छी प्रकार से करने वाले प्रत्येक साधु-साध्वी को समय-समय पर प्रोत्साहन और पुरस्कार भी दिया जाता। मनोबल और धृतिबल बढ़ाने में यह तरीका कारगर सिद्ध हुआ।

जयाचार्यश्री के युग में पुस्तकें सहज सुलभ नहीं थीं। अधिकांश पुस्तकें हस्तलिखित होती थीं। किसी के पास वे अतिरिक्त पड़ी रहतीं तो किसी के पास सर्वथा अभाव था। उन्होंने सोचा कि पुस्तकें सबको सुलभ होनी चाहिए। इसके लिए साधु-साध्वियों की एक संगोष्ठी आमंत्रित की। पूछा, साधु-साध्वियां किसके हैं—आपके। पुस्तकें किसकी हैं? जिनके पास है—उनकी! जयाचार्यश्री ने घोषणा की कि जो साधु-साध्वियां मेरे हैं, वे अपनी पुस्तकों का वजन कैसे उठाएंगे?

सबके सामने समस्या आई—अकेला व्यक्ति इतनी पुस्तकों का वजन कैसे उठाएगा? उन्होंने तत्काल पुस्तकें संघ को समर्पित कर दीं।

उन्होंने जो भी परिवर्तन किया, डंडे के बल पर नहीं किया—हृदय परिवर्तन के द्वारा किया। उनके मनोबल और धृतिबल ने हर असंभव कार्य को संभव बना दिया। ऊबड़-खाबड़ मार्ग को राजमार्ग में बदल दिया। उनकी

विकास-यात्रा का राज था—उनका हिमालयी संकल्प। जयाचार्यश्री के जीवन से जुड़ी हर घटना के पीछे उनका मानसिक-बल बोल रहा है। किसी भी कार्य को करते समय वे न भयभीत होते, न आशंका का कुहरा उनके मनोबल को कमजोर बनाता और न वे साधन-सामग्री की प्रतीक्षा करते। उन्होंने जिस कार्य को हाथ में लिया, उसे पूर्णता तक पहुंचा दिया। उनकी लेखनी ने साढ़े तीन लाख पद्य-प्रमाण रचनाओं से संघ की साहित्य संपदा को समृद्ध किया। वे जैसे-जैसे आगे बढ़े, एक आलोक पुंज उनके आगे-आगे बढ़ता गया। चिंतन के दरवाजे खुलते गए। विकास की दिशाएं उद्घाटित होती चली गईं।

उनके सामने संघ एक विशाल सागर की तरह लहरा रहा था। जिसकी एक-एक लहर हिमालय को छू सकती है। इसकी अनुभूति कराने के लिए उन्होंने सागर की परिक्रमा की। अनुशासन को नया आयाम देकर संघ की नींव को मजबूत बनाया। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

❋ मैत्री : शांति का अक्षय कोष

❑ मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

आत्मा बहुत संवेदनशील है। सभी भव्य आत्माओं का यह समान गुण-धर्म है और मैत्री सब जीवों के हित की कामना है। उपसंपदा का तीसरा साधना-सूत्र मैत्री-भाव है। मैत्री-भाव आत्मा का नैसर्गिक उदात्त परिस्फुरण है। सब जीव सुखी हों, सब निरामय-निरोग हों, सब का कल्याण हो, कोई भी दुख-दर्द का भागी न बने, किसी प्रकार की बाधा-विपदा से ग्रस्त-त्रस्त न हो और शांतिसंपन्न हो—आत्मा के इसी शुभ संवेदन से मैत्री का उद्भव होता है। ऐसा कोमल, मृदुल मनोभाव ही मैत्री का प्राणाधार है, संवर्धन-सूत्र है। मैत्री अहंभाव का विसर्जन है और कठोर मनोवृत्ति का परित्याग है। यह अधिकार की चेतना का उत्सर्जन है। अधिकार की वृत्ति ही संघर्ष खड़े करती है।

प्राणीमात्र के प्रति प्रेम की, आत्मीयता की, एकत्व की अनुभूति ही मैत्री है। मैत्री अंतर-आश्वासन है। मन अपने-आप आश्वस्त-विश्वस्त एवं संयुक्त हो जाता है। मैत्री करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ—ऐसे समता भाव की त्रिवेणी है, जिसकी शीतल लहरें मन को बड़ी शांति देती हैं। मैत्री चेतन, अवचेतन मनों को जोड़ने की प्रक्रिया है। भिन्नता में अभिन्नता का संस्पर्श एवं अनेकता में एकता की अनुभूति का उपक्रम है। मानसिक दुख एवं दूरियां मिटाने की कुंजी है। शांत, उल्लासमय, प्रफुल्ल जीवन जीने की मधुर-ललित कला है। मैत्री-भाव व्यापक शांति का सार्वभौम आधार है। यह स्वस्थ, शांत एवं संतुलित आत्म-भावों का अनुपम विकास है। अंतरात्मा का निर्मल प्रकाश है। मैत्री-भाव के जागरण से व्यक्ति सहज-स्वाभाविक भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसमें आक्रोश, द्वेष, वैर, विरोध, घृणा और आवेश आदि निषेधात्मक भावों का अंधड़ रहता ही नहीं। उद्वेग, उद्वेलन, उग्रता-उत्तेजना एवं क्षोभ-रोष जैसे तूफान शांत और विलीन हो जाते हैं। मस्तिष्कीय रूपांतरण एवं हृदय-परिवर्तन हो जाता है। व्यक्ति करुणा एवं समत्वयोग के विधायक भावों से आप्लावित हो जाता है। ऐसी शांत, संतुष्ट,

---

विश्वमैत्री के संदर्भ में सशक्त और समृद्ध राष्ट्रों की विचारधारा में संवेदनशीलता, समानता और विशालता की प्रतिष्ठा होना जरूरी है। अपने ही प्रभुत्व का वर्चस्व रहेगा तब तक मैत्री का हाथ नहीं बढ़ सकता।

मैत्री के कुछ खास सूत्र हैं। सब राष्ट्रों में यह भावना पनपे कि हमें सह-अस्तित्व के सिद्धांत पर जीना है। मानव-जाति का संहार और शोषण नहीं करना है। प्रत्युत उसे स्वतंत्रता से विकास और सर्वांगीण उन्नति का सुअवसर देना है। किसी राष्ट्र के आंतरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना है और पूरी सजगता से निःशस्त्रीकरण की दिशा में सबल प्रयास करना है। इसी के साथ सांप्रदायिक सद्भावना व सहयोग को सभी धर्म-संप्रदायों और सामाजिक संगठनों द्वारा भरपूर बढ़ावा देना जरूरी है।

चिंतामुक्त और विकल्प रहित मानसिकता ध्यान-साधना में बहुत सहायक होती है। अतः मैत्री साधना भी है।

मैत्री की साधना

मैत्री की साधना बहुत ही महान और विराट साधना है। भगवान महावीर ने इसके स्वरूप का आकलन करते हुए स्पष्ट दिग्दर्शन दिया है—**मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई**—मेरी सब प्राणियों के साथ मैत्री है। किसी से भी वैर-भाव नहीं है। वेदों में भी कहा गया है—**मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे**—हम सब जीवमात्र को मित्र की दृष्टि से देखें।

मैत्री की साधना और उसके विकास में हमारा दृष्टिकोण और भाव ही प्रमुख है। जब हम अपने दृष्टिकोण को विशाल बना कर आत्म-समत्व की दृष्टि से सब जीवों को देखते हैं—जैसा कि कहा गया है—**अत्त समे मनिज्ज छप्पिकाये आयतुले पयासु**—छव ही कायों के जीव मेरे समान हैं। सब योनियों के प्राणी आत्मतुल्य हैं। समत्व की यह दृष्टि मैत्री का मुख्य आधार है। इसी के साथ सहिष्णुता और क्षमाशीलता उसके आलंबन हैं। सहिष्णुता के बिना मैत्री का वटवृक्ष नहीं पनप सकता है।

इस विश्व में विभिन्न रुचियां हैं, विभिन्न स्वभाव हैं और विभिन्न प्रकार के विचार हैं तथा एकदम विपरीत व्यवहार भी हैं। किसी में कोई तालमेल नहीं है। ऐसी स्थिति में बिना व्यथित हुए सबको समभाव से सहने वाला ही मैत्री-भाव को सुरक्षित रख सकता है। विरोधी और प्रतिकूल आचरण पर उत्तेजित, कुपित व व्यग्र-व्याकुल होने वाला मैत्री का रसास्वादन नहीं कर सकता। सहिष्णुता की तरह ही क्षमाशीलता का प्राचुर्य भी बहुत अपेक्षित है। कोई अज्ञ, स्वार्थी तथा आग्रही-आवेशी अकस्मात किसी तरह की मानसिक ठेस लगा देता है, कोई हानि या अपमान का आचरण कर गुजरता है—तब क्षमाशीलता ही क्षमा देते हुए अपने मैत्री-भाव को रुग्ण होने से बचा पाती है। मैत्री-भाव के विकास में क्षमा का बहुत बड़ा योगदान है। दुश्चिंतन और दुर्व्यवहार के लिए यदि व्यक्ति परस्पर क्षमा का आदान-प्रदान कर ले तो निश्चित ही तनाव और कटुता कम हो जाते हैं।

मैत्री : उदार व व्यापक चेतना जरूरी

जाति, संप्रदाय, वर्ण, वर्ग और रंग आदि की क्षुद्रता-संकीर्णता सत्य को सिकोड़ती है और तब वास्तविकता की पहचान नहीं हो पाती। कूपमंडूक महासागर का स्वरूप कहां जान पाता है? मैत्री-भाव की प्रतिष्ठा उदार और व्यापक चेतना में ही संभव होती है।

मैत्री पर-निर्भर नहीं, आत्मनिर्भर है। अपनी ही अंतरंग भावना जब मृदुता, शुचिता और विशालता के नभ में फैलती है, तो मैत्री-भाव का उद्दीपन होता है। व्यक्ति के मन में उल्लास, उत्साह का अभिनव संचार होता है। चेहरे पर मुसकान दौड़ जाती है। नयनकमल खिल उठते हैं। मैत्री का जब-जब अपकर्ष, ह्रास होता है—तब-तब पारस्परिक तनाव बढ़ता है। मन में बेचैनी, व्यग्रता पैदा होती है। मानसिक अशांति बढ़ती है। मैत्री और शांति का प्रगाढ़ संबंध है। मैत्री-भाव है, तो शांति है। मैत्री टूटी, अशांति बढ़ी।

भय दूसरे से होता है—यह कथन भ्रामक है, अयुक्त है। भय दूसरे से नहीं, अपने ही चित्त के द्वैत-भाव से भय होता है। द्वैत तो संसार में सदा रहेगा। द्वित्व-नानात्व अस्तित्व है। लोक में अनंत प्राणी हैं। यही विश्व का स्वरूप है। विविध-विचार और व्यवहार हैं। उनके साथ समन्वय बिठाना और सह-अस्तित्व के सिद्धांत को गहराई से हृदयंगम करना होगा। सृष्टि का अखंड नियम है—सह-अस्तित्व। सह-अस्तित्व की साधना से ही परस्पर की जटिल समस्याओं का समाधान होगा। द्वैत वृत्ति और वैर-भाव से कभी शांति नहीं हो सकती। भगवान बुद्ध का बहुत सारभरा दिग्दर्शन है—

नहीं वैरेण वैराणि समन्तीध कुदाचन
अवैरेणतु वैराणि एस धम्मो सनंतनो

वैर से कभी वैर शांत नहीं होता, उलटा ज्यादा भड़कता है। आग से आग कब बुझती है? वैर-शमन का एकमात्र उपाय है—अवैर-भाव, मैत्री-भाव। यही शाश्वत धर्म है और सदा आचरणीय है। एकत्व और समत्व का विकास निरंतर अपेक्षित है।

मैत्री की व्यापक स्थापना के लिए बहुत अपेक्षित है कि मानव-समुदाय को धर्म, संप्रदाय और जाति आदि के किसी भी नाम पर बांटा नहीं जाए। किसी भी बहाने मनुष्यों के मनों में भेद की दीवार खड़ी करना मानवता का जघन्य अपराध है। उसी से संघर्ष और हिंसा को बढ़ावा मिलता है।

मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों में दुराव, वैषम्य और

छल-छद्म के प्रहार होते रहते हैं। मैत्री का छायादार तरु वहां नहीं लहलहा सकता। जिस जगह सर्प-बिच्छू जैसे जहरीले जंतुओं का स्वछंद प्रसार है, वहां निर्भयता कहां? वहां तो चिंता, बेचैनी और अशांति बनी ही रहती है। मैत्री-विकास के लिए सद्भावों एवं सद्व्यवहारों का परिवेश होना नितांत अपेक्षित है।

विश्वमैत्री के सूत्र : अहिंसा, कारुण्य व समानता

आज के समय में समस्त विश्व आतंकवाद से आतंकित है। आणविक शस्त्रों से अशांत है। वर्तमान के आक्रामक व्यवहारों की विभीषिका से प्रतिक्षण आशंकित और भयत्रस्त है। सांप्रदायिक संघर्ष भी बड़ी मात्रा में होते रहते हैं, जिनमें भयंकर मार-काट और हिंसा की होलियां जल उठती हैं। दीर्घ समय तक मानसिक तनाव बना रहता है। ऐसी स्थिति में व्यापक मैत्री-भाव की अपेक्षा है, ताकि संसार के भयभीत और दुखी लोग सुख व शांति की सांस ले सकें, विश्व में शांति का वातावरण बन सके। विश्वशांति का स्वप्न तभी साकार होगा, जब सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वमैत्री का मंच पूर्णतया सज्जित हो जाएगा। तभी अहिंसा, कारुण्य और समानता का उदग्र प्रवाह बह पाएगा।

विश्वमैत्री के संदर्भ में सशक्त और समृद्ध राष्ट्रों की विचारधारा में संवेदनशीलता, समानता और विशालता की प्रतिष्ठा होना जरूरी है। अपने ही प्रभुत्व का वर्चस्व रहेगा तब तक मैत्री का हाथ नहीं बढ़ सकता।

मैत्री के कुछ ख़ास सूत्र हैं। सब राष्ट्रों में यह भावना पनपे कि हमें सह-अस्तित्व के सिद्धांत पर जीना है। मानव-जाति का संहार और शोषण नहीं करना है, प्रत्युत उसे स्वतंत्रता से विकास और सर्वांगीण उन्नति का सुअवसर देना है। किसी राष्ट्र के आंतरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना है और पूरी सजगता से निःशस्त्रीकरण की दिशा में सबल प्रयास करना है। इसी के साथ सांप्रदायिक सद्भावना व सहयोग को सभी धर्म-संप्रदायों और सामाजिक संगठनों द्वारा भरपूर बढ़ावा देना जरूरी है।

अणुव्रत का योगदान—मैत्री-विस्तार में

आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत अहिंसा-प्रधान और नैतिकतानिष्ठ समाजरचना का पक्षधर है। बलप्रयोग और मानवीय मूल्यों की अवमानना वहां बिल्कुल भी सह्य नहीं है। आत्मसंयम, सहिष्णुता, भ्रातृभाव, सहकार और सकारात्मक सोच से ही स्वस्थ समाज की रचना हो सकती है।

मैत्री एवं भ्रातृभाव-विकास के लिए अणुव्रत के बहुत व्यापक ठोस सूत्र हैं। ये हैं—(1) मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा। (2) जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंचा-नीचा नहीं मानूंगा। (3) अस्पृश्य नहीं मानूंगा। मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा। (4) सांप्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा। (5) मैं आक्रमण नहीं करूंगा। (6) मैं आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा। (7) विश्वशांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।

राष्ट्रों का नेतृवर्ग तथा समाज इन सब संकल्पों का आत्मसाक्षी से पालन करे तो मैत्री-भाव की महान आधार-भूमि बन सकती है, जो कि बनानी परम आवश्यक है। आचार्यश्री तुलसी ने मानव-समाज को मैत्री की सबल प्रेरणा दी है। उनके मैत्री-गीत की प्रथम पंक्ति है—**बड़े प्रेम से मिल-जुल सीखें मैत्री मंत्र महान**। मैत्री और समत्व के सिवा शांति का कोई उपाय नहीं है। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' का मार्मिक उद्बोधक पद्य है—

शांति नहीं तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो
नहीं किसी को बहुत अधिक हो नहीं किसी को कम हो

समानता में ही मैत्री का विकास और स्थायित्व होता है। किसी प्रकार के वैषम्य में तो दुराव और द्वेष ही बढ़ता है।

मैत्री-भाव की निष्पत्तियां

निश्छल और निर्मल अंतःकरण से मैत्री-भाव का व्यापक विस्तार होने पर विश्व का कायाकल्प हो सकता है। आक्रोश, द्वेष, घृणा, वैर-विरोध और दुराग्रह मिट कर निरातंक, निर्भय, चिंतामुक्त, समन्वय और सौहार्दपूर्ण अखंड शांति का परिवेश बन जाता है। हिंसा, चोरी, डाका, अपहरण, हत्या, जालसाजी आदि अपराधों के क्रूर कांडों से सर्वथा मुक्ति मिल सकती है। शांति के वातावरण में आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक, औद्योगिक और भौतिक—सब प्रकार के विकास को अवकाश मिलता है।

मैत्री और अहिंसा एकात्मक हैं। कहा भी है—**अहिंसा प्रतिष्ठायां वैर त्याग**—अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा

होने पर जन्मजात वैर वाले प्राणियों की वैर-भावना भी समाप्त हो जाती है। व्यक्तियों के भाव क्रूर, कट्टर, कठोर नहीं रहते। वे कोमल, मधुर, लचीले एवं करुणामय बन जाते हैं। शत्रुता की दृष्टि विलीन हो जाती है। तब बहुत बड़ा रूपांतरण घटित होता है। सहिष्णुता, परदुखकातरता, मिलनसारिता और सर्वहितेच्छु की भावना जग जाती है। इसी से सामुदायिक चेतना जग सकती है।

हिंसक शस्त्रों की समाप्ति होने पर अथवा उनके निर्माण की न्यूनता होने पर और आणविक शस्त्रों पर निरर्थक व्यय रुकने से विश्व के राष्ट्रों की समृद्धि में स्वयं बढ़ोतरी होती है।

मैत्री-भाव की सघन प्रतिष्ठा होने पर सब मानसिक ग्रंथियां खुल जाती हैं। किसी प्रकार का कोई छिपाव, दुराव, तनाव और अवसाद नहीं रहता। मानव-समाज निर्विकार, निर्द्वंद्व, निष्पक्ष, सरल-सरस और भारमुक्त होकर हलका बन जाता है। शोषण और शासनमुक्त अहिंसा से उत्प्रेरित संतुलित-स्वस्थ मानव-समाज की रचना हो जाती है। ❖

सर्वधर्म समभाव मनुष्य, समाज, देश और दुनिया में धर्म के नाम पर चल रही विपरीत विचारधारा में, शांति, स्नेह और एकता स्थापित करने के साथ, स्थिर जीवनमूल्य देने वाला व्रत है। हमारे देश की परंपरा में भिन्न-भिन्न भाषा, धर्म और संस्कृतियों का अपूर्व संगम रहा है। इस भिन्नता के अनुरूप उस समाज की रचना, उद्योगों का विकास एवं व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित हुआ है। ऐसे भिन्न समाज संस्कृति के वातावरण में साम्य, संतुलन और सौहार्द का वातावरण निर्माण करके उन्हें साथ लेकर आगे बढ़ने के प्रयत्न 'परमसाम्य' की आराधना के बिना संभव नहीं हैं।

जीवन के आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में स्थूल साम्य की आवश्यकता के साथ ही अन्य नैतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में भी साम्य लाने की आवश्यकता है। तुलनात्मक दृष्टि से इनका अवलोकन और विश्लेषण सूक्ष्म एवं जटिल है। यह मनुष्य के सूक्ष्म संस्कार, भावना एवं अहंबुद्धि से जुड़ा हुआ है। हर मनुष्य का विकास एक विशिष्ट वातावरण एवं संस्कारों के बीच होता है, जिनमें परिवर्तन करना या उनमें से ऊपर उठना उसके लिए कठिन होता है। सर्वधर्मों की समानता का विचार भी इसी तरह मानव के सूक्ष्म मन के घेरे में अपनी जड़ें गहरी जमा कर बैठा हुआ है। धर्म के नाम पर मनुष्य-मनुष्य में आपसी द्वेष, वैरभाव, ऊंच-नीच के भेदभाव निर्माण हुए हैं। परिणामतः उनके दिल-दिमाग आपस में एकरूप होने की बजाय टूट गए हैं, दूर हो गए हैं। समाज की बड़ी-बड़ी सभ्य-सुसंस्कृत मानी जाने वाली जमातें भी इस विषमता के कारण दूर-दूर हो कर, निष्क्रिय हो बैठी हैं। हमारे सद्विचार, सद्गुणों की शक्ति संगठित न होकर कमजोर हो गई है। बावजूद इसके मनुष्य विशेष को अपना धर्म ही श्रेष्ठ और ऊंचा लगता रहा है।

धर्म के संबंध में सामान्यतः दो बातें सुनने में आती हैं। एक है सर्वधर्म समभाव, दूसरा है सर्वधर्म आदर। इसमें आदर, प्रेम रखना एक बात है और समभाव की भूमिका अलग है। साम्य विचार की दृष्टि से ये दोनों बातें उचित ही मानी जाएंगी। अपने मूल आत्मस्वरूप की प्रेरणा से ऊर्ध्वोन्मुख हुआ मनुष्य नैतिक भूमिका पर धर्म और संस्कृतियों के बीच संतुलन बिठाने का प्रयत्न करता है और आदर, प्रेम, दया, करुणा की सात्त्विक भावनाओं को महत्त्व का स्थान प्रदान करता है। अपने धर्म के रीति-रिवाज, व्रत, उपासनाओं का पालन करते हुए दूसरे धर्म को उतना ही आदर देने का प्रयत्न करता है। अपने धर्म की ऊंचाइयों की तुलना में दूसरे धर्म को नापता है। यह सर्वधर्म आदर की परंपरा हमारे देश में चली आई है। यही कारण है कि हमारे देश में विविध भाषा, धर्म, संप्रदाय के लोग बड़े ही प्रेम और आदर से एक ही गांव, गली और मौहल्लों में रहते पाए जाते हैं। यहां तक कि एक ही परिवार में भिन्न धर्म एवं संप्रदाय को मानने वाले व्यक्ति एक परिवार के सदस्य होते हैं। यह सर्वधर्मों में पाई जाने वाली अच्छाइयां, सद्गुण, सद्विचार सद्वृत्ति का परिणाम है।

—ज्योति पाटणकर

पर्युषण : परिवर्तन का अनूठा प्रयोग

❑ मुनि कुमुद कुमार

जैन धर्मावलंबी अनादि काल से पर्युषण पर्व मानते आ रहे हैं। आत्मदीप को प्रज्वलित करने वाला यह पर्व एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इस पर्व में आठ दिन तक तप, जप, ध्यान, स्वाध्याय, संयम की साधना की जाती है और व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बनने के लिए स्वयं को उस दिशा में अग्रसर करता है। श्वेतांबर परंपरा के पर्युषण पर्व की संपन्नता के साथ ही दिगंबर परंपरा में इस पर्व को दस-लक्षण-पर्व के रूप में मनाते हैं। जिसमें क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य, संयम आदि दस धर्म की विवेचना व साधना की जाती है। यह पर्व व्यक्ति को पवित्र आध्यात्मिक ऊंचाइयों की ओर ले जाता है, परंतु कब? तभी, जब व्यक्ति के भीतर से आवाज उठती है कि मुझे जीवन में कुछ परिवर्तन करना है। इस तरह यह भी कहा जा सकता है कि पर्युषण पर्व परिवर्तन का एक अनूठा प्रयोग है। अपने-आप को आत्म-दर्पण में देखने का पर्व है।

धर्म का अर्थ ही है—परिवर्तन। व्यक्ति खाता जाए और पेट न भरे तो मानना चाहिए कि कोई रोग है। एक साधक निरंतर साधना करता जाए, परंतु परिवर्तन न आए तो मानना चाहिए कि साधना में कोई कमी है। इस पर्व पर हम दूसरों की प्रवृत्तियों का नहीं, स्वयं की समीक्षा करते हैं। अपनी वृत्तियों का निरीक्षण करते हैं। यह सिद्धांतों को आचरण में लाने का एक पवित्र पर्व है।

कषाय-शमन का पर्व

पर्युषण कषाय-शमन की प्रेरणा देता है। कषाय व्यक्ति का स्वभाव नहीं, विभाव है—जो आत्मा को विकृत कर उसे अपने लक्ष्य तक पहुंचने से रोकता है। इस पर्व पर इसीलिए मन को इतना निर्मल बना लिया जाता है कि कभी भी कषाय रूपी रज स्पर्श नहीं कर पाए। इस पर्व में हम आत्मा की उज्ज्वल धारा में निमज्जन करते हैं और अपनी निर्मल भावना से कषाय का क्षय करते हैं। पर्युषण पर्व पर हम केवल बाह्य संयम ही नहीं, अपितु कषाय का संयम, इंद्रिय-

> *व्यक्ति विश्व भर की जानकारी रखता है, पर स्वयं के बारे में बहुत कम जानता है। दूसरों की गलतियों को तो देखता है और स्वयं की कमियों को नजरअंदाज कर देता है। पर्युषण पर्व पर हमने पूरे वर्षकाल में क्या खोया, क्या पाया—यह लेखा-जोखा करते हैं। हम याद करते हैं उन क्षणों को, जिनके कारण जीवन दूषित होता रहा। हम अतीत से प्रेरणा लेते हैं तथा संकल्प करते हैं कि अतीत की भूलें पुनः जीवित न हो जाएं। यह पर्व प्रतिक्रमण के अनुष्ठान का होता है। हम आत्मनिरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करते हैं। वर्तमान में जीते हुए, वर्तमान के मूल्य को परखते हैं एवं भविष्य की सुखद शुरुआत करते हैं। आत्मावलोकन का यह महान क्षण आत्म-ऊर्ध्वारोहण की दिशा में उठाया हुआ कदम होता है।*

संयम, राग-द्वेष का संयम करना भी सीखें। यह संयम इतना प्रगाढ़ हो जाए कि हर वर्ष संयम की यात्रा चरैवेति-चरैवेति अग्रसर होती रहे और मंजिल तक पहुंच कर अनंत आनंद में डूब जाएं।

विकास का पर्व

भौतिक ऊंचाई के साथ-साथ हमें अपने जीवन में आत्मा की ऊंचाई और गहराई को मापना भी सीखना चाहिए। अगर व्यक्ति जीवन में विकास करना चाहता है, तो उसे सबसे पहले संयम, समता, सचाई, विश्वास, नैतिकता, आस्था और पुरुषार्थ का सम्यक् विकास करना होगा। स्वाध्याय के द्वारा हम अपनी वृत्तियों को सुसंस्कारी बना सकते हैं। पर्युषण पर्व अंतरंग की दूषित परतों को खोलने का पर्व है। हम उन परतों को उतार डालें, जो आत्मा पर आवरण बनी हुई हैं। उन दीवारों को गिरा दें, जो आत्मविकास की राह में बाधक बनी हुई हैं। उस खाई को पाट दें, जो सचाई की राह में बाधक बन रही है। उन तत्त्वों को मिटा दें, जो मंजिल के मुकाम तक पहुंचने में अवरोध बने हुए हैं और आत्मविकास के इस पर्व पर अध्यात्म का आरोहण करते हुए आत्मस्वरूप को प्राप्त करें।

महापर्व

भारतीय संस्कृति में अनेक पर्व, त्योहार मनाए जाते हैं, परंतु जैन धर्म का यह आध्यात्मिक महापर्व आमोद-प्रमोद का, रंग-बिरंगे वस्त्र पहनने का और पकवान-मिष्टान्न खाने का पर्व नहीं है। इस महापर्व का उद्देश्य आत्मविशुद्धि है। यह संयम, त्याग और आत्म-चेतना को विकसित करने का महान अवसर होता है। यह पर्व आत्मा को परमात्मा बनाने का, राग पर विराग की विजय का तथा अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का महापर्व है। पर्युषण पर व्यक्ति पदार्थ केंद्रित नहीं, आत्मकेंद्रित होता है। इसलिए यह पर्व महापर्व की व्यापकता को पाता है।

मैत्री का पर्व

जब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बन जाता, तब तक वह भूलें करता रहता है। व्यक्ति चाहे-अनचाहे वैर का अनुबंध भी कर लेता है। जिसके कारण संसार-चक्र में भटकता रहता है। पर्युषण पर्व क्षमा के आदान-प्रदान का अद्वितीय पर्व है, ग्रंथि विमोचन का अनमोल अवसर है। व्यक्ति जाने-अनजाने में वैर की गांठों को खोल कर आत्मविशुद्धि की ओर बढ़ता है तथा अपने-आप को न केवल तन से, अपितु कर्म ग्रंथियों से भी हलका महसूस करता है। इस अवसर पर न केवल औपचारिक क्षमायाचना होती है, बल्कि हृदय बोलता है, भावनाएं बदलती हैं।

इस अवसर पर जो व्यक्ति विरोध की परंपरा को बनाए रखता है, जैन दर्शन के अनुसार वह व्यक्ति सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है। कितने आह्लाद का क्षण होता है, जब व्यक्ति 'खमत-खामणा' के विराट सूत्र को आत्मसात् करता है! सब जीवों को क्षमा देता है एवं क्षमा लेता है। सह-अस्तित्व और समन्वय का यह सूत्र जैन दर्शन की व्यापकता को उजागर करता है। क्षमा दिवस को हम यदि राष्ट्रीय स्तर पर 'विश्व मैत्री दिवस' के रूप में मनाएं, तो इससे निश्चित रूप से अहिंसा, करुणा एवं मैत्री का वातावरण बनेगा।

अवलोकन का पर्व

व्यक्ति विश्व भर की जानकारी रखता है, पर स्वयं के बारे में बहुत कम जानता है। दूसरों की गलतियों को तो देखता है और स्वयं की कमियों को नजरअंदाज कर देता है। पर्युषण पर्व पर हमने पूरे वर्षकाल में क्या खोया, क्या पाया—यह लेखा-जोखा करते हैं। हम याद करते हैं उन क्षणों को, जिनके कारण जीवन दूषित होता रहा। हम अतीत से प्रेरणा लेते हैं तथा संकल्प करते हैं कि अतीत की भूलें पुनः जीवित न हो जाएं। यह पर्व प्रतिक्रमण के अनुष्ठान का होता है। हम आत्मनिरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करते हैं। वर्तमान में जीते हुए, वर्तमान के मूल्य को परखते हैं एवं भविष्य की सुखद शुरुआत करते हैं। आत्मावलोकन का यह महान क्षण आत्म-ऊर्ध्वारोहण की दिशा में उठाया हुआ कदम होता है।

सदियों से हम पर्युषण पर्व को मनाते आ रहे हैं। आत्मविशुद्धि के इस महान पर्व को हम जीवंतता के साथ मनाएं, तभी इस पर्व की एवं हमारे जीवन की सार्थकता सिद्ध होगी। ❖

प्रत्येक मनुष्य में अर्थ और काम के आर्थिक मूल्यों से आरंभ करके आध्यात्मिक मूल्य उपलब्ध करने तक के विकास की संभावनाएं अंतर्निहित हैं और मनुष्य की इसी क्षमता को ध्यान में रख कर वेदव्यास ने महाभारत के एक श्लोक में लिखा है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

—डॉ. छगन मोहता

भोजन : आवश्यकता पूर्ति या आनंद

❑ लियो टॉल्स्टॉय

उत्तम जीवन आत्म-संयम के बिना न तो कभी संभव हुआ है और न हो सकता है। आत्म-संयम से पृथक उत्तम जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। श्रेष्ठता की प्राप्ति का इसी से प्रारंभ होना चाहिए। सद्गुणों का एक स्तंभ होता है और यदि कोई उसके शिखर पर पहुंचना चाहे तो उसको नीचे-से-नीचे वाली सीढ़ी से चढ़ना प्रारंभ करना चाहिए और यदि मनुष्य अन्य सद्गुणों को प्राप्त करना चाहे तो उसे पहला गुण आत्म-संयम अथवा सादगी को अपनाना चाहिए।

आत्म-संयम का अर्थ है—मनुष्य का वासनाओं से मुक्त होना, वासनाओं को सीमित और सरल बनाना। किंतु, मनुष्य की वासनाएं अनेक और विविध होती हैं और उनका सरलतापूर्वक सामना करने के लिए मनुष्य की मौलिक वासनाओं को—जिनके आधार पर जटिल वासनाएं उत्पन्न होती हैं—पहले चुनौती देनी चाहिए। उन जटिल वासनाओं को उसे पहले ही छोड़ना चाहिए, जो मौलिक वासनाओं पर खड़ी होती हैं। कुछ तो जटिल वासनाएं होती हैं—जैसे कि शरीर को संवारना, खेल-कूद, मनोरंजन, गपशप, पराई चर्चा आदि-आदि और कुछ मौलिक वासनाएं होती हैं—जैसे अतिमात्रा में भोजन करना, आलस्य और काम-वासना आदि। मनुष्य को इन वासनाओं का प्रारंभ से ही सामना करना चाहिए—जटिल वासनाओं का नहीं—बल्कि मौलिक वासनाओं का; और सामना भी एक निश्चित क्रम से करना चाहिए। यह क्रम तथ्यों के स्वरूप और मानव-विवेक की परंपरा, दोनों ही के द्वारा निर्धारित होता है। जो मनुष्य अत्यधिक खाता है, वह आलस्य से नहीं लड़ सकता और अति-पेटू आलसी मनुष्य काम-वासना का कभी सामना नहीं कर सकता। इसलिए सभी नैतिक शिक्षाओं के अनुसार आत्म-संयम की दिशा में आगे बढ़ने के लिए मनुष्य को सबसे पहले जीभ की वासना से संघर्ष शुरू करना चाहिए, व्रत-उपवास से शुरुआत करनी चाहिए। किंतु, हमारे जमाने में लोगों ने श्रेष्ठ जीवन प्राप्त

भोजन के बारे में सोचना तभी बंद हो सकता है, इस विकार को तभी वश में किया जा सकता है, जब मनुष्य आवश्यकता-पूर्ति के अलावा कुछ न खाए। किंतु, जब मनुष्य आवश्यक हो जाने पर ही अर्थात् पेट ठसाठस भर चुकने के बाद ही खाना बंद करता है, तो हालत जैसी है, उससे अन्यथा नहीं हो सकती। यदि भोजन के आनंद का उपयोग करना चाहें, यदि इस आनंद के प्रति उनके मन में गहरी आसक्ति हो, यदि वे इसको अच्छा समझें (जैसा कि इस जमाने के अधिकतर आदमी समझते हैं, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित) तो इस आनंद के विस्तार की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती, उसे चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है। आवश्यकता-पूर्ति की सीमा हो सकती है, किंतु आनंद की कोई सीमा नहीं। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोटी, चावल, दाल और शाक-भाजी जरूरी और काफी हो सकते हैं, किंतु आनंद की पूर्ति के लिए नाना भांति के व्यंजन भी काफी नहीं हो सकते।

करने के लिए आवश्यक प्रत्येक गंभीर साधन को इतने अरसे से और इस पूरी तरह गंवा दिया है कि पहला सद्गुण आत्म-संयम—जिसके बिना और कोई सद्गुण प्राप्त नहीं किया जा सकता—न केवल अनावश्यक समझा जाता है, बल्कि उस क्रम की भी उपेक्षा की जाती है जो इसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। व्रत-उपवासों को बिल्कुल भुला दिया जाता अथवा मूर्खतापूर्ण, अंध-विश्वास और अनावश्यक समझा जाता है। यह सब होने पर भी आत्म-संयम सद्जीवन की पहली शर्त है, उसी प्रकार व्रत-उपवास संयमित जीवन की पहली शर्त है। बिना व्रत-उपवास किए मनुष्य उत्तम बनने की इच्छा कर सकता है। श्रेष्ठता के स्वप्न देख सकता है, किंतु व्रत-उपवास किए बिना श्रेष्ठ पुरुष बन सकना ठीक उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार कि मनुष्य अपने पांवों पर खड़े हुए बिना आगे नहीं बढ़ सकता।

व्रत-उपवास सद्जीवन की पहली अनिवार्य शर्त है। इसके विपरीत अति मात्रा में भोजन करना हमेशा बुरे जीवन का पहला चिह्न माना गया है और है भी, और दुर्भाग्य की बात है कि हमारे जमाने के अधिकांश मनुष्यों में बहुत बड़ी मात्रा में यह दुर्गुण पाया जाता है। आप अपने आस-पास के और अपने समय के मनुष्यों को देखिए, आपको लटके हुए गालों और ठुड्डियों वाले चेहरों पर, मांसल अंगों और बढ़े हुए पेटों पर असंयत जीवन के अमिट चिह्न दिखाई देंगे। वस्तुस्थिति इससे अन्यथा हो भी नहीं सकती। अपने जीवन पर विचार कीजिए और इस बात पर भी विचार कीजिए कि हमारे समाज में अधिकतर आदमियों का क्या लक्ष्य है और अपने-आप से प्रश्न पूछिए—'इन बहुसंख्यक लोगों की दिलचस्पी का मुख्य विषय क्या है?' हम अपने वास्तविक हेतुओं को छिपाने और झूठे, बनावटी हेतु प्रकट करने के अभ्यस्त हो गए हैं, अतः हमको यह भले ही आश्चर्यजनक प्रतीत हो, किंतु आपको ज्ञात होगा कि उनके जीवन में स्वाद की तृप्ति, भोजन का आनंद ही मुख्य दिलचस्पी का विषय होता है। गरीब से गरीब तथा अमीर से अमीर तक—मेरे खयाल से हरेक के जीवन में भोजन का आनंद ही मुख्य आनंद माना जाता है।

गरीब, श्रमजीवी लोगों को हम इसका अपवाद समझ सकते हैं, किंतु यह अपवाद उतने ही अंशों में होता है जितने अंशों में कि दरिद्रता उन्हें इस विकार के वशीभूत होने से दूर रखती है। ज्योंही उन्हें अवकाश और साधन मिल जाते हैं, त्योंही वे उच्च वर्गों की नकल करके स्वादिष्ट से स्वादिष्ट और मिष्ट पदार्थ प्राप्त करते हैं और शक्ति भर खूब खाते और पीते हैं। जितना अधिक वे खाते हैं, उतना ही वे अपने-आप को न केवल सुखी बल्कि मजबूत और तंदुरुस्त खयाल करते हैं और उच्च वर्ग के लोग, जिनकी भोजन के विषय में ठीक यही धारणा होती है, उनके इस विश्वास को पुष्ट करते हैं। डाक्टर लोग कहते हैं कि बहु-व्ययसाध्य भोजन सबसे अधिक स्वास्थ्यदायक होता है और पढ़े-लिखे लोग इन डाक्टरों का अनुसरण करके यह समझते हैं कि सुस्वादु पोषक और सरलता से पच जाने वाला भोजन ही सुख और संतोष का कारण है, हालांकि वे इस बात को छिपाने की कोशिश करते हैं।

धनी आदमियों के जीवन की ओर देखिए, उनकी बातचीत को सुनिए। दर्शन, विज्ञान, कला, कविता, संपत्ति का विभाजन, लोक कल्याण, बालकों की शिक्षा आदि बड़े-बड़े विषयों की वे चर्चा करते हैं, किंतु अधिकतर लोगों के लिए यह सब चर्चा कोई अर्थ नहीं रखती। काम से असली काम के बीच अर्थात् दुपहर के भोजन और सायंकाल के भोजन के बीच उन्हें जो समय मिलता है, उसको व्यतीत करने के लिए वे ऐसी चर्चाएं करते रहते हैं, जबकि उनका पेट पूरी तरह भरा होता है और उनके लिए और अधिक खा सकना असंभव होता है। अधिकतर स्त्री-पुरुषों की, खासकर प्रारंभिक अवस्था के बाद, जीवित दिलचस्पी केवल इसी बात में रहती है कि कैसे खाया जाए, क्या खाया जाए तथा कब और कहां खाया जाए। कैसा भी गंभीर समारोह हो, उत्सव का प्रसंग हो, पूजा-पाठ का अवसर हो, उद्घाटन-समारोह हो—भोजन कार्यक्रम अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है।

यदि हम अधिकतर लोगों के दिलों में झांक सकें, तो हमको उनकी सर्वोपरि इच्छा क्या ज्ञात होगी? नाश्ते और भोजन की भूख! बचपन से लगाकर बड़ी उम्र तक के मनुष्य के लिए सबसे कठोर दंड क्या होता है? खाने के लिए केवल रोटी और पीने के लिए पानी न देना। वे कौन से कारीगर हैं—जो सबसे ऊंचे वेतन पाते हैं?

शेष पृष्ठ 41 पर

संन्यासी

❑ सुदर्शन

लखनवाल (जिला गुजरात) का रहने वाला पालू उन लोगों में से था, जो गुणों की गुथली कहे जाते हैं। यदि वह गांव में न होता—तो होलियों में झांकियों का, दीवाली पर जुए का और दशहरे पर रामलीला का प्रबंध कठिन हो जाता था। उन दिनों उसे खाने-पीने तक की सुध न रहती थी। वह तन-मन से इन कार्यों में लीन रहता था। गांव में कोई गाने वाला आ जाता, तो लोग पालू के पास जाते कि देखो कुछ राग-विद्या जानता भी है या यों ही हमें गंवार समझ कर धोखा देने आ गया है? पालू अभिमान से सिर हिलाता और उत्तर देता—'पालू के रहते हुए तो यह असंभव है। बाद की भगवान जाने।'

केवल इतना ही नहीं, वह बांसुरी और घड़ा बजाने में भी पूरा उस्ताद था। हीर-रांझे का किस्सा पढ़ने में तो दूर-दूर तक कोई उसके जोड़ का न था। दोपहर के समय जब वह पीपल के पेड़ तले बैठ कर ऊंची आवाज से जोगी और सहती के सवाल-जवाब पढ़ता तो सारे गांव के लोग जमा हो जाते और उसकी प्रशंसा के पुल बांधने लगते। उसके स्वर में जादू था। वह कुछ दिन के लिए भी बाहर चला जाता, तो सारे गांव में उदासी छा जाती थी।

मगर उसके घर के लोग उसके गुणों की कद्र न ही करते थे। पालू मन-ही-मन इस पर बहुत कुढ़ता था। तीसरे पहर घर जाता, तो मां ठंडी रोटियां सामने रख देती। रोटियां ठंडी होती थीं, परंतु गालियों की भाजी गर्म होती थी। उस पर भावजें तीखे तानों से कड़वी मिर्चें छिड़क देती थीं। पालू उन मिर्चों से कभी-कभी बिलबिला उठता था। परंतु लोगों की सहानुभूति मिश्री की डली का काम दे जाती थी। घर में मिर्चें मिलती थीं, घर से बाहर मिश्री मिलती थी।

वे तीन भाई थे, सुचालू, बालू और पालू। सुचालू सरकारी स्कूल, गुजरात में व्यायाम का मास्टर था, इसलिए लोग उसे सुचालामल के नाम से पुकारते थे। बालू दूकान करता था। उसे

१२

इतने में स्वामी विद्यानंद अंदर आ गए। पितृ-वात्सल्य ने लज्जा को दबा लिया था। परंतु, सुखदयाल और भतीजों के वस्त्र तथा उनके रंग-रूप को देखा, तो खड़े के खड़े रह गए। भतीजियां ऐसी थीं, जैसे चमेली के फूल। और सुक्खू? वही सुक्खू, जो कभी मैना के समान चहकता फिरता था; जिसकी बातें सुनने के लिए रह जाते लोग खड़े हो जाते थे; जिसकी नट-खटी बातों पर दुलार उमड़ता था; अब उदासीनता की मूर्ति बना हुआ था। उसका मुंह इस प्रकार कुम्हलाया हुआ था, जिस प्रकार जल न मिलने से पौधा कुम्हला जाता है। उसके बाल रूखे थे और मुंह पर निरीहता और हताशा बरसती थी। उसके वस्त्र मैले-कुचैले थे, जैसे किसी भिखारी का बेटा हो। स्वामी विद्यानंद के नेत्रों में आंसू आ गए। सुखदेवी और बालकराम पर घड़ों पानी पड़ गया। बालकराम ने खिसिया कर कहा—'कैसा शरारती है! दिन-रात धूल में खेलता रहता है।'

१३

बालकराम कहते थे। परंतु पालू की रुचि सर्वथा खेल-कूद ही में थी। उसे लोग पालू ही कहते थे। पिता समझाता था, मां उपदेश देती थी, भाई निष्ठुर दृष्टि से देखते थे। मगर पालू सुना-अनसुना कर देता और अपने हाल में मस्त रहता था।

पालू की आयु के तैंतीस वर्ष इसी प्रकार बीत गए, परंतु उसे कोई अपनी लड़की देने को तैयार न हुआ। मां दुखी होती थी, मगर पालू हंस कर टाल देता था और कहता था—मैं ब्याह करके क्या करूंगा? मुझे इस बंधन से दूर ही रहने दो। परंतु, विधाता के लेख को कौन मिटा सकता है? पांच मील की दूरी पर टांडा नामक एक गांव है। वहां के एक चौधरी ने पालू को देखा और लट्टू हो गया। रूप-रंग में सुंदर था, शरीर से सुडौल था। जात-पांत पूछ कर उसने अपनी बेटी ब्याह दी।

● ● ●

पालू के जीवन में पलटा आ गया। पहले वह दिन के बारह घंटे बाहर रहता था और घर से ऐसा घबराता था जैसे चिड़िया पिंजरे से। परंतु, अब वही पिंजरा उसके लिए फूलों की वाटिका बन गया।

पालू लाख अनपढ़ था, परंतु मूर्ख नहीं था। स्वभाव का बेपरवा था और कोई भी बात हंस कर टाल देता था। लेकिन, धीरे-धीरे नौबत यहां तक पहुंची कि भाई-भावजें भी बात-बात में ताने देने और घृणा की दृष्टि से देखने लगीं। आदमी सब-कुछ सह लेता है, पर अपमान नहीं सह सकता। पालू भी बार-बार के अपमान को देख कर चुप न रह सका। एक दिन पिता के सामने जाकर बोला—'यह क्या, रोज-रोज ऐसा ही होता रहेगा?'

पिता भी उससे बहुत दुखी थे, झल्ला कर बोले—'तुम जैसों के साथ ऐसा ही होना चाहिए।'

पालू ने कुछ धीरज से पूछा—'आप अपना विचार साफ-साफ प्रकट कर दें, मैं भी तो कुछ जान पाऊं।'

—'सारे गांव में तुम्हारी मिट्टी उड़ रही है। क्या अब भी बताने की बात बाकी रह गई है?'

—'पर मैंने ऐसी कोई बात ही नहीं की, जिससे मेरी मिट्टी उड़े और लोगों में निंदा हो।'

—'कोई कामधाम करते नहीं हो और सारा दिन घर में पड़े रहते हो, यह क्या कोई थोड़ी निंदा की बात है? तुम सुधर जाओ। नहीं तो सारी उमर रोते रहोगे। हमारा क्या है, नदी किनारे के पेड़ हैं—आज हैं, कल बह गए। परंतु, इतना तो संतोष रहे कि जीते-जी अपने सब पुत्रों को कमाते-खाते देख लिया।'

यह कहते-कहते पिता की आंखों में आंसू आ गए। उसकी एक-एक बात जंची-तुली थी।

पालू को अपनी भूल का ज्ञान हो गया, सिर झुका कर बोला—'आप जो कहें, मैं वही करने को तैयार हूं।'

इतनी जल्दी काम बन जाएगा, पिता को यह आशा न थी। प्रसन्न होकर कहने लगा—'जो कहूंगा, करोगे?'

—'हां! करूंगा।'

—'स्त्री को उसके घर भेज दो और काम करने लगो।'

पालू को ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने विष का प्याला सामने रख दिया हो। यदि उसे यह कहा जाता कि तुम घर से बाहर निकल जाओ और एक-दो वर्ष वापस न लौटो, तो वह सिर न उठाता। परंतु, इस बात से, जो उसकी भूलों की स्वीकृति थी, उसके अंतःकरण को दारुण दुख हुआ। उसे ऐसा लगा मानो उसका पिता उसे भारी दंड दे रहा हो और उससे बदला ले रहा हो। कुछ क्षण चुप रह कर उसने क्रोध से कांपते हुए उत्तर दिया—'यह न होगा। स्त्री को उसके घर न भेजूंगा। यह असंभव है।'

—'तो यह भी असंभव है कि मैं तुम्हें परांठे खिलाता रहूं। कल से किनारा करो।'

जब मनुष्य को क्रोध आता है, तो सबसे पहले जीभ बेकाबू होती है। पालू ने भी उचित-अनुचित का विचार न किया और अकड़ कर उत्तर दिया—'मैं इसी घर से खाऊंगा, और देखूंगा कि मुझे कौन निकाल देता है यहां से?'

बात साधारण थी, परंतु दोनों दिलों में गांठ बंध गई। पालू को उसकी स्त्री ने भी समझाया। मां ने भी, पर उसने किसी की बात पर कान न दिया और बेपरवाई से सबको टाल दिया।

पालू की स्त्री की गोद में दो वर्ष का बालक खेलता था। माता-पिता दोनों न्योछावर थे। पर, एकाएक उजाले में अंधकार ने सिर निकाला। गांव में हैजे का रोग फूट पड़ा। इसका पहला शिकार पालू की स्त्री हुई।

● ● ●

पालू अजीब स्वभाव का आदमी था। धीरज और नम्रता उसके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल थी। बचपन में वह बेपरवा था। और यह बेपरवाई चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। आठ-आठ दिन घर से बाहर रहना उसके लिए साधारण बात थी। फिर ब्याह हुआ तो एक साथ पांवों को जकड़ लिया। यह वह समय था, जब उसकी आंखें एकाएक बाह्य संसार की ओर से बंद हो गईं। जब स्त्री मर गई, तभी पालू की आंखें खुलीं।

ऐसा प्रायः देखा गया है कि पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ और मूर्ख लोग अपनी टेक का अधिक खयाल रखते हैं और इसके लिए तन-मन-धन तक न्योछावर कर देते हैं। पालू में भी यह गुण कूट-कूट कर भरा था। माता-पिता ने दोबारा ब्याह करने की ठानी, परंतु पालू ने स्वीकार न किया और उनसे साफ-साफ कह दिया कि जिस बंधन से एक बार छूट चुका हूं, उसमें दोबारा न फंसूंगा। गृहस्थी का सुख-भोग मेरे प्रारब्ध में न था। यदि होता, तो मेरी पहली स्त्री क्यों मरती? अब तो इसी प्रकार जीवन बिता दूंगा।

परंतु, यह अवस्था भी अधिक समय तक न रह सकी। तीन मास के अंदर-अंदर उसके माता-पिता, दोनों चल बसे। पालू के दिल पर दूसरी बड़ी चोट लगी। फिर एक रोज रोता हुआ बड़ी भावज के पांवों में गिर पड़ा और बोला—'अब तो तुम्हीं बचा सकती हो, वरना मेरे मरने में कोई कसर नहीं।'

भावज ने उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा—'मैं तुम्हें स्त्री से बढ़ कर चाहूंगी। क्या हुआ, जो तुम्हारे माता-पिता मर गए! हम तो जीते हैं।'

—'यह नहीं! मेरे बेटे को संभालो। मैं अब घर में न रहूंगा।'

उसकी भाभी अवाक् रह गई। पालू अब संपत्ति बांटने के लिए झगड़ा करेगा, उसे इस बात की आशंका थी। परंतु यह सुन कर कि पालू घर-बार छोड़ जाने को तैयार है, उसका हृदय आनंद से झूमने लगा। वह अपने हर्ष को छिपा कर बोली—'यह क्या? तुम भी हमें छोड़ जाओगे, तो हमारा जी यहां कैसे लगेगा?'

—'मुझे तो अब यह घर भूत के समान काटने को दौड़ता है। मैं यहां रहूंगा तो जीता न बचूंगा। मेरे बच्चे के सिर पर हाथ रखो। मुझे न धन चाहिए, न जायदाद चाहिए। मैं सांसारिक बंधनों से मुक्त होना चाहता हूं। अब मैं संन्यासी बनूंगा।'

यह कह कर उसने अपने पुत्र सुखदयाल को भावज की गोद में डाल दिया और रोते हुए बोला—'इसकी मां मर चुकी है, पिता संन्यासी हो रहा है। परमात्मा के लिए इसका दिल न दुखाना।'

बालक ने जब देखा कि पिता रो रहा है, तो वह भी रोने लगा और बाप के गले से लिपट गया। परंतु पालू के पांव को यह बंधन भी न बांध सका। उसने हृदय पर पत्थर रखा और अपने संकल्प को दृढ़ कर लिया।

सायंकाल को जब पशु-पक्षी अपने-अपने बच्चों के पास घरों को वापस लौट रहे थे, पालू अपने बच्चे को छोड़ कर घर से बाहर भागा जा रहा था।

● ● ●

दो वर्ष बीत गए। पालू की हालत में आकाश-पाताल का अंतर पड़ गया। वह किसी पर्वत माला पर रहता था, पत्थरों पर सोता था, रात को जागता था और हर समय ईश्वर-भक्ति में लीन रहता था। उसके इस आत्म-संयम की सारे हृषीकेश में धूम मच गई। यात्री लोग जब तक स्वामी विद्यानंद के दर्शन न कर लेते थे, अपनी यात्रा को सफल न समझते थे। उनकी कुटिया बहुत दूर पर्वत की एक कंदरा में थी, परंतु उनके आकर्षण से लोग वहां भी खिंचे चले आते थे। उनकी कुटिया में रुपए-पैसे और फल-मेवे के ढेर लगे रहते थे। परंतु, त्याग का वह पुतला उनकी ओर आंख भी न उठाता था। हां, इतना लाभ अवश्य हुआ कि इस कारण स्वामीजी के बीसों चेले बन गए।

स्वामीजी के मुख-मंडल पर तेज बरसता था, जैसे सूरज से किरणें निकलती हैं। परंतु, इतना होते हुए भी चित्त को चैन न था। प्रायः सोचा करते थे कि देश-देशांतर में मेरी भक्ति की धूम मच रही है। दूर-दूर तक मेरे यश के डंके बज रहे हैं; मुझे देख कर बड़े-बड़े महात्मा दंग रह जाते हैं। परंतु, मेरे मन को शांति क्यों नहीं? सोता हूं तो सुख की निद्रा नहीं आती—जागता हूं तो सेवा-साधना में मन एकाग्र नहीं होता।

उनके कान में प्रायः आवाज आती कि तू अपने आदर्श से दूर जा रहा है। स्वामीजी बैठे-बैठे चौंक उठते, मानो किसी ने कांटा चुभो दिया हो। बार-बार सोचते, परंतु कारण समझ में न आता था। वे घबरा कर रोने लग

जाते थे। इससे मन तो हलका हो जाता था, परंतु चित्त को चैन फिर भी न मिलता था। उस समय सोचते—संसार मुझे धर्मावतार समझ रहा है, पर कौन जानता है कि यहां आठों पहर आग लगी रहती है! पता नहीं पिछले जन्म में कौन पाप किए थे, जो सारी साधना अकारथ जा रही है!

अंत में एक दिन अपने गुरु स्वामी प्रकाशानंद के पास जा पहुंचे। उस समय वे कथा से निवृत्त हुए थे। ज्योंही स्वामी विद्यानंद को देखा, वे फूल की तरह खिल गए। उन्हें विद्यानंद पर गर्व था। हंस कर बोले—'कहिए क्या हाल है? शरीर तो अच्छा है ना?'

परंतु स्वामी विद्यानंद ने कोई उत्तर न दिया। वे रोते हुए उनके चरणों से लिपट गए।

स्वामी प्रकाशानंद को बड़ी हैरानी हो रही थी। अपने सबसे प्रिय शिष्य को इस तरह रोते देख कर उनकी आत्मा को आघात-सा लगा। वह उन्हें स्नेह से उठा कर बोले—'क्यों! कुशल तो हो? रोते क्यों हो?'

स्वामी विद्यानंद ने बालकों की तरह फूट-फूट कर रोते हुए कहा—'महाराज! मैं निरा पाखंडी हूं। संसार मुझे धर्मावतार समझता है। परंतु, मेरे मन में अभी तक शांति नहीं है।'

जिस प्रकार एक भले-चंगे आदमी को देखने के कुछ क्षण बाद उसकी मृत्यु का समाचार सुन कर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार स्वामी प्रकाशानंद को अपने साधनाशील सदाचारी शिष्य की बात पर विश्वास न हुआ। उन्होंने इस तरह, जैसे उनके कानों ने धोखा खाया हो, पूछा—'क्या कहा?'

स्वामी विद्यानंद ने सिर झुका कर उत्तर दिया—'महाराज! मेरा शरीर दग्ध हो गया है, परंतु मन अभी तक निर्मल नहीं है।'

—'इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है?'

—'मैं सदा अशांत रहता हूं। मानो कोई कर्तव्य है, जिसे मैं पूरा नहीं कर रहा हूं।'

—'इसका कारण क्या हो सकता है—जानते हो?'

—'जानता तो आपकी सेवा में क्यों आता?'

एकाएक स्वामी प्रकाशानंद को कोई बात याद आ गई। वह हंस कर बोले—'तुम्हारी स्त्री है?'

—'उसकी मृत्यु ही तो संन्यास का कारण हुई थी।'

—'माता?'

—'वह भी नहीं।'

—'पिता?'

—'वह भी मर चुके हैं।'

—'कोई बाल-बच्चे?'

—'हां! एक बालक है। अब वह चार साल का होगा।'

—'उसका पालन-पोषण कौन करता है?'

—'मेरा भाई और मेरी भाभी।'

स्वामी प्रकाशानंद को रास्ता सूझ गया। वे हंस कर बोले—'तुम्हारी अशांति का कारण मालूम हो गया। हम कल तुम्हारे साथ तुम्हारे गांव चलेंगे।'

विद्यानंद ने नम्रता से पूछा—'मुझे शांति मिल जाएगी?'

—'अवश्य मिलेगी। कल अपने गांव की तैयारी करो।'

• • •

पालू के मित्रों में लाला गणपतराय का पुत्र भोलानाथ हांडा बड़ा सज्जन पुरुष था। उसका पालू के साथ बड़ा अपनापा था। उसके मन की स्वच्छता, उसके भोलेपन, उसकी निःस्वार्थता पर भोलानाथ तन-मन से न्योछावर था। जब तक पालू लखनवाल में रहा, भोलानाथ ने सदा उसकी सहायता की। वे दोनों जौहड़ के किनारे बैठते, धर्मशाला में जाकर खेलते, मंदिर में जाकर कथा सुनते। लोग देखते तो कहते—यह तो कृष्ण-सुदामा की जोड़ी है। परंतु, कृष्ण के आदर-सत्कार करने पर भी जब सुदामा ने वन का रास्ता लिया, तब कृष्ण को बहुत दुःख हुआ। इसके बाद उसे किसी ने खुल कर हंसते नहीं देखा।

भोलानाथ ने पालू का पता लगाने की बड़ी चेष्टा की, परंतु जब यत्न करने पर भी सफलता न हुई, तब उसके पुत्र सुखदयाल की ओर ही ध्यान दिया। वह प्रायः बालकराम के घर चला जाता और सुखदयाल को गोद में उठा लेता, प्यार करता, पैसे देता। कभी-कभी उसे अपने घर भी ले आता था। वहां उसे मिठाई खिलाता और घूमने ले जाता।

भोलानाथ के पैरों की चाप सुन कर सुखदयाल के चेहरे पर भी रौनक आ जाती। उसके चाचा-चाची तो घोर निर्दयता का व्यवहार करते, पर भोलानाथ उसे प्यार करता। इसका क्रोध सुखदयाल पर उतरता था। जब कभी भोलानाथ सुखदयाल के पास जाता, तभी उसे पितृ-प्रेम का अनुभव होता।

• • •

लोहड़ी का दिन था, सांझ का समय। बालकराम के द्वार पर पुरुषों की भीड़ थी, आंगन में स्त्रियों का जमघट। कोई गा रही थी, कोई हंसती थी, कोई आग में चावल फेंकती थी, कोई चिवड़े खाती थी। तीन लड़कियों के बाद भगवान ने पुत्र दिया था। आज उसकी पहली लोहड़ी थी। बालकराम और उसकी स्त्री, दोनों आनंद से फूले न समा रहे थे। बड़े समारोह से त्योहार मनाया जा रहा था। परंतु, सुखदयाल की ओर किसी का भी ध्यान न था। वह घर से बाहर एक दीवार के साथ खड़ा लोगों की ओर निरीह आंखों से देख रहा था कि एकाएक भोलानाथ ने उसके कंधे पर हाथ रख कर कहा—'सुक्खू!'

सूखे धानों में पानी पड़ गया हो जैसे। सुखदयाल ने गद्‌गद होकर उत्तर दिया—'चाचा!'

—'आज लौहड़ी है। तुम्हारी ताई ने तुम्हें क्या दिया?'

—'मक्की।'

—'और क्या दिया?'

—'और कुछ नहीं।'

—'और तुम्हारी बहनों को?'

—'मिठाई भी दी, नारंगियां भी दीं, पैसे भी दिए।'

भोलानाथ की आंखों में आंसू भर आए। भर्राए हुए स्वर में बोला—'हमारे घर चलोगे?'

—'हां, चलूंगा।'

घर पहुंच कर भोलानाथ ने पत्नी से कहा—'इसे कुछ खाने को दो।' भोलानाथ की तरह उसकी पत्नी भी सुखदयाल से प्यार करती थी। उसने बहुत-सी मिठाई उसके सामने रख दी। सुखदयाल मजे से खाने लगा। जब खा चुका तो चलने को तैयार हुआ। भोलानाथ ने कहा—'ठहरो। इतनी जल्दी काहे की है?'

—'ताई मारेगी।'

—'क्यों मारेगी?'

—'कहेगी, तू चाचा के घर क्यों चला गया था?'

—'तेरी बहनों को भी मारती है?'

—'नहीं, उन्हें प्यार करती है।'

भोलानाथ अपनी स्त्री से बोले—'जो मिठाई बची है, वह इसकी जेब में डाल दे।'

सुखदयाल ने प्यासी आंखों से मिठाई की ओर देखा और जवाब दिया, 'न।'

—'क्यों?'

—'ताई मारेगी और मीठाई छीन लेगी।'

—'पहले भी कभी मारा है?'

—'हां, मारा है।'

—'कितनी बार मारा है?'

—'कई बार मारा है।'

—'किस तरह मारा है?'

—'चिमटे से मारा है। बेलन से मारा है। लकड़ी से मारा है।'

भोलानाथ का दिल रो उठा। उन्होंने ठंडी सांस भरी और चुप हो गए। सुखदयाल धीरे-धीरे अपने घर की ओर चला गया। परंतु उसकी बातें ताई के कानों तक उससे पहले जा पहुंची थीं। उसके क्रोध की कोई थाह नहीं थी।

जब रात अधिक बीत गई और गली-मुहल्ले की स्त्रियां अपने-अपने घर चली गईं, तो उसने सुखदयाल को पकड़ कर कहा—'क्यों बे कलमुंहे! चाचा से क्या कहता था?'

सुखदयाल का कलेजा कांप गया। डरते-डरते बोला—'कुछ नहीं कहा था।'

—'तू तो कहता था, ताई मुझे चिमटे से मारती है, बेलन से मारती है।'

बालकराम पास खड़ा था, आश्चर्य से बोला—'अच्छा! अब यह छोकरा हमारी मिट्टी उड़ाने पर उतर आया है।'

सुखदयाल ने आंखों ही आंखों में ताऊ की ओर देख कर प्रार्थना की कि मुझे इस निर्दयी से बचाओ। परंतु वहां भी क्रोध बैठा था। ताई ने कड़े स्वर में डांट कर पूछा—'क्यों? अब तू बोलता क्यों नहीं?'

—'अब न कहूंगा।'

—'अब न कहूंगा! न मरता है, न पीछा छोड़ता है। खाने को देते जाओ, जैसे इसके बाप की जागीर पड़ी है।'

यह कह कर उसने पास पड़ा हुआ बेलन उठाया। उसे देख कर सुखदयाल बिलबिला उठा। परंतु अभी बेलन उसकी पीठ पर पड़ा ही था कि उसकी लड़की दौड़ती हुई आई और कहने लगी—'चाचा आया है।'

• • •

सुखदेवी का हृदय कांप गया। वह बैठी थी, खड़ी हो गई और बोली—'कौन-सा चाचा? गुजरात वाला?'

—'नहीं, पालू चाचा!'

सुखदेवी और बालकराम, दोनों हैरान रह गए। जिस प्रकार बिल्ली को सामने देख कर कबूतर सहम जाता है, उसी प्रकार दोनों सहम गए। दो वर्ष पहले, जब पालू साधु बनने के लिए विदा होने आया था, तब सुखदेवी मन में खुश हुई थी, परंतु उसने प्रकट किया था कि उसका हृदय इस समाचार से टुकड़े-टुकड़े हो गया है। इस समय उसके मन में भय और व्याकुलता थी, परंतु मुख पर प्रसन्नता की बनावटी झलक थी। वह जल्दी से बाहर निकली और बोली 'पालू!'

परंतु, वहां पालू के स्थान पर एक साधु-महात्मा खड़े थे, जिनके मुख-मंडल से तप की किरणें निकल रही थीं। सुखदेवी के मन को धीरज हुआ। मगर एकाएक खयाल आया, यह तो वही है। वही मुंह, वही आंखें, वही रंग, वही रूप। परंतु, कितना परिवर्तन हो गया है! कहां वह पालू? कहां यह महात्मा? आकाश-पाताल का अंतर था। सुखदेवी ने मुस्करा कर कहा—'स्वामीजी प्रणाम करती हूं।'

इतने में बालकराम अंदर से निकला और रोता हुआ स्वामीजी से लिपट गया। स्वामीजी भी रोने लगे। परंतु यह रोना दुख का नहीं आनंद का था। जब हृदय कुछ स्थिर हुआ तो बोले—'भाई, जरा बाल-बच्चों को तो बुलाओ। देखने को जी तरस गया।'

सुखदेवी अंदर को चली, परंतु पांव मन-मन के भारी हो गए। वह सोचती थी, यदि बालक सो गए होते तो कैसा अच्छा होता? सब बातें ढकी रहतीं। अब क्या करूं? इस बदमाश सुक्खू के कपड़े इतने मैले हैं कि उसे सामने करने का साहस नहीं पड़ता। आंखें कैसे मिलाऊंगी? रंग में भंग डालने के लिए इसे आज ही आना था! दो वर्ष बाद आया है। इतना भी न हुआ कि पहले पत्र ही लिख देता। लिख देता, तो तैयार हो जाती।

इतने में स्वामी विद्यानंद अंदर आ गए। पितृ-वात्सल्य ने लज्जा को दबा लिया था। परंतु, सुखदयाल और भतीजों के वस्त्र तथा उनके रंग-रूप को देखा, तो खड़े के खड़े रह गए। भतीजियां ऐसी थीं, जैसे चमेली के फूल। और सुक्खू? वही सुक्खू, जो कभी मैना के समान चहकता फिरता था; जिसकी बातें सुनने के लिए राह जाते लोग खड़े हो जाते थे; जिसकी नट-खटी बातों पर दुलार उमड़ता था; अब उदासीनता की मूर्ति बना हुआ था। उसका मुंह इस प्रकार कुम्हलाया हुआ था, जिस प्रकार जल न मिलने से पौधा कुम्हला जाता है। उसके बाल रूखे थे और मुंह पर निरीहता और हताशा बरसती थी। उसके वस्त्र मैले-कुचैले थे, जैसे किसी भिखारी का बेटा हो। स्वामी विद्यानंद के नेत्रों में आंसू आ गए। सुखदेवी और बालकराम पर घड़ों पानी पड़ गया। बालकराम ने खिसिया कर कहा—'कैसा शरारती है! दिन-रात धूल में खेलता रहता है।'

स्वामी विद्यानंद दिल में सब-कुछ समझ गए, परंतु उन्होंने मुंह से कुछ नहीं कहा और बोले—'मैं आज अपने पुराने कमरे में सोऊंगा। एक चारपाई डलवा दो।'

रात का समय था। स्वामी विद्यानंद सुक्खू को लिए हुए अपने कमरे में पहुंचे। पुरानी बातें ज्यों की त्यों याद आने लगीं। कैसा आनंद था, विचित्र काल था। स्वामी विद्यानंद के मन में हलचल मच गई। सुक्खू का कुम्हलाया मुख देख कर स्वामी विद्यानंद ने सोचा—'मैं कैसा मूर्ख हूं! ताऊ और ताई के भरोस छोड़ मैं चलता बना। जब इस पर वे सख्ती करते होंगे, जब अकारण इसको मारते-पीटते होंगे, जब इसके सामने अपनी लड़कियों से प्यार करते होंगे, उस समय यह क्या कहता होगा? इसके हृदय में क्या विचार उठते होंगे?—यही कि मेरा पिता नहीं है। वह मर गया, नहीं तो मैं इस दशा में क्यों रहता! यह फूल था, आज धूल में मिला हुआ है। इसके हृदय में धड़कन है, नेत्रों में त्रास है, मुख पर उदासी है। वह चंचलता, जो बच्चों का गुण है—इसमें नाम को नहीं। वह हठ, जो बालकों की सुंदरता है—इससे विदा हो चुकी है। बालपन ही में यह बूढ़ों की तरह गंभीर हो गया है। इस अनर्थ का उत्तरदायित्व मेरे सिर है, जो इसे यहां छोड़ गया।'

इन्हीं विचारों में झपकी आ गई। स्वामी विद्यानंद क्या

देखते हैं—वही हृषीकेश का पहाड़ है, वही कंदरा है, उसमें वही देवी की मूर्ति है और वह उसके सामने खड़े रो-रोकर कह रहे हैं—'माता! दो वर्ष बीत गए। अभी तक शांति नहीं मिली। क्या यह जीवन रोने ही में बीत जाएगा?'

एकाएक पत्थर की मूर्ति के होंठ हिले और स्वामी विद्यानंद ने अपने कान उधर लगा दिए। आवाज आई—'तू क्या मांगता है, यश?'

—'नहीं! मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।'

—'तो धन?'

—'नहीं, वह भी नहीं।'

—'तो फिर जगत-दिखावा क्यों करता है?'

—'मुझे शांति चाहिए।'

—'शांति के लिए सेवा के मार्ग पर चलना होगा। पहाड़ छोड़ और नगर में जा। वहां दुखी जन रहते हैं, उनके दुख दूर कर। किसी के घाव पर फाहा रख, किसी के टूटे हुए मन को धीरज बंधा। परंतु, यह रास्ता भी तेरे लिए कठिन है। तेरा पुत्र ही है, पहले तू उसी की सेवा कर। तेरे मन को शांति मिल जाएगी।'

यह सुनते ही स्वामीजी की आंखों से परदा हट गया। जागे, तो सारा भेद उन पर खुल चुका था कि मन की शांति कर्तव्य-पालन से मिलती है। उन्होंने सुखदयाल को जोर से गले लगाया और उसके रूखे मुंह को सहलाया। ❖

भोजन : आवश्यकता पूर्ति या आनंद

पृष्ठ 34 का शेष

रसोइए! घर की मालकिन की दिलचस्पी का मुख्य विषय कौन-सा होता है? मध्यम वर्ग की स्त्रियों से बातचीत आम तौर पर किस विषय पर होती है? यदि उच्च वर्गों के लोगों की बातचीत का झुकाव इसी ओर नहीं होता तो इसका यह कारण नहीं कि वे ज्यादा शिक्षित होते हैं, अथवा अधिक उच्च विषयों की चर्चा में जुटे रहते हैं, बल्कि इसका कारण है कि उन्हें ऐसा नौकर या रसोइया मिला होता है जो भोजन संबंधी चिंताओं से उन्हें मुक्त रखता है। किंतु, एक बार आप उन्हें इस सुविधा से वंचित-कर दीजिए, तो आपको मालूम हो जाएगा कि उन्हें किस बात की चिंता होगी। सारी चर्चा भोजन के विषय पर आकर समाप्त हो जाती है।

भोजन के बारे में सोचना तभी बंद हो सकता है, इस विकार को तभी वश में किया जा सकता है, जब मनुष्य आवश्यकता-पूर्ति के अलावा कुछ न खाए। किंतु, जब मनुष्य आवश्यक हो जाने पर ही अर्थात् पेट ठसाठस भर चुकने के बाद ही खाना बंद करता है, तो हालत जैसी है, उससे अन्यथा नहीं हो सकती। यदि भोजन के आनंद का उपयोग करना चाहें, यदि इस आनंद के प्रति उनके मन में गहरी आसक्ति हो, यदि वे इसको अच्छा समझें (जैसा कि इस जमाने के अधिकतर आदमी समझते हैं, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित) तो इस आनंद के विस्तार की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती, उसे चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है। आवश्यकता-पूर्ति की सीमा हो सकती है, किंतु आनंद की कोई सीमा नहीं। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोटी, चावल, दाल और शाक-भाजी जरूरी और काफी हो सकते हैं, किंतु आनंद की पूर्ति के लिए नाना भांति के व्यंजन भी काफी नहीं हो सकते।

रोटी आवश्यक और काफी खाद्य है (यह इस बात से सिद्ध है कि केवल रोटी खाकर करोड़ों आदमी मजबूत, क्रियाशील, तंदुरुस्त रहते हैं और कठोर परिश्रम करते हैं) किंतु, रोटी को किसी स्वादिष्ट पदार्थ के साथ खाने में ज्यादा आनंद आता है। यदि इसके साथ कुछ तरकारी या तरकारियां भी हों तो और भी अच्छा रहता है। यह हुआ हमारा भोजन, साधारण भोजन। ऐसे भोजन से आनंद में भारी वृद्धि की जा सकती है।

❖

स्वाध्याय से बुद्धि, तप से मेधा तथा योग से प्रज्ञा जाग्रत होती है। बुद्धि का काम है इंद्रियों के विषयों की छाप को अंतःकरण में ले आना। यह छाप अच्छी–बुरी, मलिन या विकृत हो सकती है। स्वाध्याय से बुद्धि सूक्ष्म और शुद्ध होने से विवेक विकसित होता है और योग्य प्रभाव के ग्रहण की तथा अयोग्य को त्यागने की शक्ति जाग्रत होती है। ऐसी विवेकशील बुद्धि का मेधा में रूपांतरण होता है। मेधा शब्द 'मेधृ' धातु (एकत्रित करना) से बना है। जिस प्रकार मधुमक्खी सभी फूलों से रस–ग्रहण करती है उसी प्रकार मेधावी भी सारग्राही होता है।

—मकरन्द दवे

गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता

•

सांझ उतरी रंग लेकर उदासी का
पर्वतों के पास
बिंबिता झीलें हुई गंभीर
सांझ की मानो सखी हों
गगन में है गेरुई कुछ बेरुखी-सी
दूरियां फैली हुई
आकाश की अतिनील छायाओं सरीखी
मैं यहां मैदान-पथ पर जा रहा हूं!!

अब बरसने पर उतारू हो गया
यह सांवला हलका धुंधलका नील
दार्शनिकता भर रही है व्यर्थता का बोध
दूर छूटे शहर में वह चर्च की मीनार
नील-गहराई-तिमिर में मिल रही है!!
मैं तिमिर में मिल उदासी का बना अद्वैत
भीतर से सघन—
सत्-चित नहीं आनंद!!

गगन के तारे हुए हैं झलमलाते गणित के शत अंक
वह गणित जो हल न मैं कर पा रहा हूं
किंतु वह गिरि-लहर-रेखा-क्षितिज पर धुंधली
कर रही मुझको प्रभावित
अप्रभावित आत्म-स्थिरता से
दूर वह है व्यूह इमली के दरख्तों का
कि वह निःसंग फिर भी सख्त कैसा क्या!!

आकाश की छाया सरीखी दूरियों में खूब
इस तिमिर में इस गगन के नीचे
नहीं मैं झूठ बोलूंगा!!
प्राण की सब गुत्थियों की वेदनाएं क्यों खोलूं मैं
झाड़ियों में बैठ, मैं कुछ सोच भी लूं!!

कष्ट देती हैं मुझे ये सब दिशाएं
जा नहीं सकता सभी के पास
घेर बैठी हैं मुझे गंभीर-मन सब आत्माएं
जा नहीं सकता सभी के पास
रग-रगों में फैल ये संवेदनाएं
कर रही अनगिन तकाजे
सब तकाजे सुन नहीं सकता हृदय का त्रास
आदर्श की संवेदना के हाथ में
यह मानव-मूल्यों की तुला
मुझको अकिंचन कर रही; औ' साथ में
निज भर्त्सना की लौह-कर अर्गला
उस-द्वार पर मेरे
आनंद आने ही नहीं देती!!
दोष किसका है!!
बुद्धि का यह काम
वह मापे जमीन
मंगवाय गिट्टी
रास्ता बन जाए मेहनत से
किंतु ये संवेदना
सबका तकाजा
चाहती पूरा अभी और एकदम
उनका गणित कैसा अजब
जी, मैं मरूं तो कुछ नहीं
मर जाएं वे संवेदनाएं
किंतु ना

इसलिए मुझको हुई ईर्ष्या
चट्टान-टीलों से पहाड़ों से
तिमिर से
सूने दरख्तों से
कितने आत्मतंत्री
लीन और तल्लीन अपने में
काश मैं
निज से बड़ा
और सख्त हो पाता! ❖

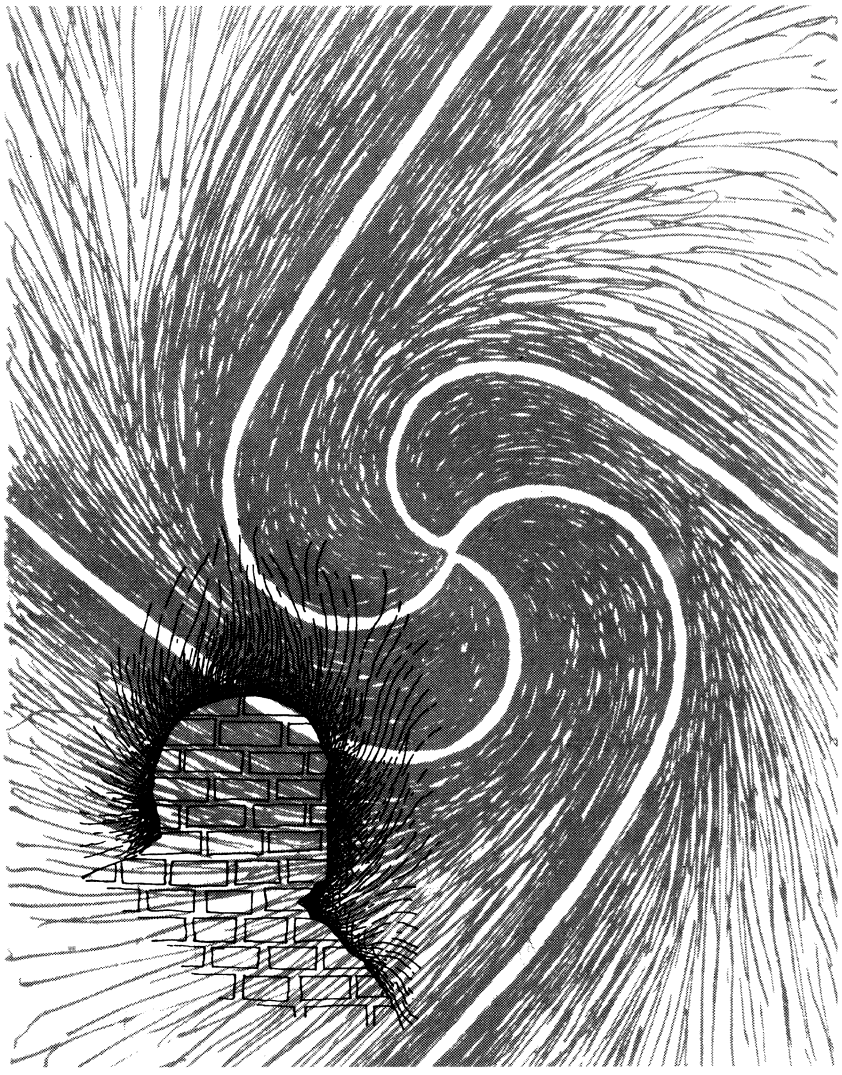

शीलन

तुम स्वतंत्र तभी होगे जब स्वतंत्र होने की इच्छा भी तुम्हें बंधन जान पड़ेगी और जब स्वाधीनता को तुम ध्येय और सिद्धि कहना छोड़ दोगे।

वास्तव में तुम स्वतंत्र तभी होगे जब तुम्हारे दिन चिंता-रहित नहीं होंगे और न रातें वासना और शोक से खाली होंगी। बल्कि जब ये चीजें तुम्हें पीसती होंगी और फिर भी तुम इनसे ऊपर उठोगे—नग्न और मुक्त।

—ख़लील जिब्रान

संस्कार संपदा : एक अनुशीलन

❑ साध्वी जगवत्सला

मनुष्य की सबसे अमूल्य और उत्कृष्ट निधि है—संस्कार। संस्कारों की संपदा सचमुच उत्कृष्ट है, अनुत्तर है, अमूल्य है। इसके आगे विश्व का वैभव भी कोई मूल्य नहीं रखता। संस्कार पर विमर्श के लिए उसके स्वरूप की व्याख्या अपेक्षित है। संस्कार के स्वरूप को समझने के लिए उसकी व्युत्पत्ति पर विचार किया जाना चाहिए। आचार्यश्री तुलसी ने—'संस्कार संबोध'—नामक ग्रंथ की संरचना की और उसमें उन्होंने लिखा है—

संस्कारों की संपदा है उत्कृष्ट अमूल्य।
धन-वैभव संसार का क्या रखता है मूल्य।।

महर्षि जैमिनी प्रणीत—**द्रव्यगुण संस्कारेषु बादरिः** सूत्र के भाष्य में श्री शबरपादमहाभाग ने संस्कार को परिभाषित करते हुए कहा है—**संस्कारो नाम सभवति यस्मित्रजाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य**—अर्थात् संस्कार वह होता है, जिसके उत्पन्न होने पर पदार्थ किसी प्रयोजन के लिए योग्य हो जाता है। तंत्र-वार्तिककार श्री भट्टपाद के मतानुसार—संस्कार वे क्रियाएं और रीतियां हैं, जो योग्यता प्रदान करती हैं—**योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते।**

आर्य जाति में सोलह संस्कारों का महत्त्व प्रसिद्ध है। भारतीय सनातन धर्म की मान्यता के अनुसार एक बार माता के गर्भ से जन्म होता है और दूसरा जन्म इन संस्कारों से होता है। स्मृतिकारों ने स्पष्ट लिखा है कि इन संस्कारों के द्वारा बीज और गर्भ के दोष दूर किए जाते हैं—**बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते। एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्।** संस्कारों के संकल्प में भी बोला जाता है कि—**बीजगर्भसमुद्भवैनोनिर्बहण द्वारा परमेश्वरप्रीत्यर्थमित्यादि।** संस्कार शब्द भी संस्कृत भाषा का है और 'संस्कृति' शब्द भी संस्कृत भाषा का। इसकी व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार होती है—'सम्' और 'कृत'। 'कृति' के मानी है कि हम जो कुछ भी करते हैं—किसी भी वस्तु, कर्म या व्यक्ति को संवारने हेतु जो

संस्कारों के साक्षात्कार या दर्शन से जन्म-जन्मांतर का स्वरूप उजागर हो जाता है, क्योंकि उसमें ही कृतकर्म और होने वाले प्रतिकर्म के बीज बरगदवत छिपे रहते हैं। आजकल भौतिक विज्ञान जिसे 'जींस' कहता है, जो एक प्रकार की स्थूल प्रक्रिया है—इसे संस्कार-सूत्र भी कहा जाता है। इसके आधार पर ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। सर्वनीतियों में पारंगत, अत्यंत विद्वान, ज्ञानसंपन्न एवं तपस्वी होने पर भी संस्कारों के कारण रावण भी राक्षस की कोटि में ही परिगणित हुआ। जबकि राम सदाचरण, शील-संपन्नता जैसे सत्संस्कारों के कारण विश्व वल्लभ, विश्व वत्सल बन गए। यहां यह वर्ण्य है कि दोनों में इतना अंतर क्यों? इसका उत्तर यह है कि रावण दानवीय दुर्गुणों के कारण राक्षस की श्रेणी में आकर अपूज्य बन गया, जबकि मानवीय गुणों के कारण राम जगत्वंद्य, जगवत्सल बन जगत्पूज्य बन गए।

क्रिया की प्रक्रिया है—वह संस्कृति है। संस्कार व संस्कृति की अनेक प्रणालियां हैं। मनुष्य के शरीर को, उसके चरित्र को, उसकी विद्या को, उसकी बुद्धि को और उसके जीवन की प्रणाली को संवारने की दृष्टि से जो क्रिया-कलाप किए जाते हैं—उन सबको संस्कार या संस्कृति कहा जाता है।

धर्मशास्त्रों में संस्कारों की लंबी शृंखला है। गौतम सूत्र में अड़तालीस संस्कार उल्लेखित हैं—**अष्टचत्वारिंशता संस्कारैः संस्कृतः**। गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण आदि से लेकर अस्पृहा तक अड़तालीस संस्कारों का नामोल्लेख किया है।

नारदपात्रचरात्र के अनुसार—ताप, पुंड्र, नाम, मंत्र और याग—ये पांच संस्कार हैं। अतः वृत्तियों को संयमित करने के लिए इनकी परम आवश्यकता है। संस्कार शब्द का अर्थ ही है—दोषों का परिमार्जन करना। जीव के दोषों, कमियों को दूर कर उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन पुरुषार्थ चतुष्टय के योग्य बनाना ही संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।

अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का अनुवाद संस्कृति किया जाता है, परंतु 'संस्कृति' संस्कृत भाषा का शब्द है। 'सम्' की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही संस्कृति कहा जाता है, जिसकी चर्चा नैयायिकों के त्रिविध संस्कार के अंतर्गत मिलती है। संस्कारों से आत्मा या अंतःकरण शुद्ध होता है, जिसे अतिशयाधान अथवा उत्तम संस्कार कहा जाता है और मलापनयन अथवा द्रव्य दृष्टि से कथित संस्कार को उत्कृष्ट संस्कार में परिगणित नहीं किया जा सकता।

संस्कृति और सभ्यता

शास्त्रों द्वारा निर्णीत सम्यक् एवं साधु-चेष्टा सभ्यता है और सम्यकृति अथवा सम्यक् कृति ही संस्कृति है। अतएव दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं। **विभिन्न संस्कृतियां**—विभिन्न देशों, वेशों, परिवेशों और जातियों की विभिन्न संस्कृतियां प्रसिद्ध हैं। **संस्कृति का आधार**—संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है। जिसके द्वारा ऐसा हो, वह संस्कार ही संस्कृति का आधार है। **संस्कारित जीवन**—मनुष्य को प्रतिदिन निराकार परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। इससे पाप और विक्षेपों का समूल नाश होता है और कल्याण मार्ग में बहुत उन्नति होती है।

मेरा अभिमत है कि पापों के नाश के लिए जिन पंच महायज्ञों का विधान है, उसमें निरवद्य रूप प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का परिवर्तन और परिशोधन किया जाए तो वे इस प्रकार हैं—तप, जप, संयम, शील, साधना (स्वाध्याय एवं ध्यान रूप)। मनुष्य को सत्संस्कार जगाने की जरूरत है। संस्कारों के जागरण के लिए प्रभु नाम एवं स्वरूप का स्मरण जरूरी है। धर्म प्रवृत्ति जरूरी है। अतएव मनुष्य को परमसिद्धि की प्राप्ति के लिए संपूर्ण जीवों को उन्हें ईश्वर रूप समझ कर अपने न्याययुक्त कर्तव्य की चेष्टा करनी चाहिए।

सत्संस्कारों में पवित्रता का महत्त्व

पवित्रता के दो साधन हैं। प्रथम—जल स्नान शुद्धि—जिससे बाह्य शौच, शारीरिक पवित्रता को मान्य किया गया है। दूसरा—आंतर शौच। इससे तम्, रोग एवं पापों के परमाणु सहसा अंदर प्रविष्ट नहीं होते। उसमें आत्मा की अवदातता, अमलता को स्वीकृत किया गया है। संस्कार का अर्थ है—दोषों का नाश और गुणों को जन्म देने वाला कर्म ही संस्कार है। **चतुश्चत्वारिंशत् संस्कार संपन्न**—आदि स्थलों में चौंवालीस संस्कार संपन्न संस्कृत और संस्कार शब्दों का प्रयोग मिलता है। संस्कार रूप आचार से देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि, द्रव्य, देश और क्रिया की शुद्धि होती है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् रूपात्मक त्रिगुण माने हैं। सत्त्वगुण से क्या सुलभ है—उसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विशुद्ध सत्त्व से ध्यान, समाधि और अविप्लव विवेक, ख्याति एवं निवृत्तिरूपा मुक्ति सुलभ होती है तथा मलिन सत्त्वगुण से यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा पर्यंत निवृत्ति योग सुलभ होता है। रजोगुण से अर्थ और कायपर्यवसायी धर्मानुष्ठानों में प्रीति व प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। तमोगुण की प्रगल्भता से निद्रा, आलस्य, प्रमाद और हिंसादि क्रूर कर्मों में प्रवृत्ति होती है। आगम, वेद, पुराण—सबमें सत्संस्कारों के जागरण पर बल दिया है। सभी दर्शनों ने संस्कारों की महत्ता को उजागर किया है। सर्वत्र संस्कार की महिमा उद्गीत हुई है।

संस्कारों का प्रयोजन और महत्त्व

यत्र, तत्र, सर्वत्र, स्वर-व्यंजन की दृष्टि से द्रव्यतः,

पर्यायतः, नैश्चयिक व्यावहारिक नय से, दर्शन-अध्यात्म की अपेक्षा से, प्रयोजन फलश्रुति की दृष्टि से, लौकिक और लोकोत्तर दृष्टि से, ऐहलौकिक व पारलौकिक दृष्टि से संस्कारों का प्रयोजन और महत्त्व—सत्यं, शिवं और सुंदरं है। उसमें मनोयोग सृष्टि का प्रयोजन है—**उपायः सोऽवताराय।**

दर्शनों में दुःख का हेतु जन्म, जन्म का हेतु धर्माधर्म रूप प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का मूल रागद्वेष रूप दोष, दोष का बीज मिथ्याज्ञान माना है। मिथ्याज्ञान के निवारण से रागद्वेष रूप दोष का निवारण सुनिश्चित है। **अविद्यानिवृत्या ब्रह्मरूपाविर्भावो मोक्षः**—अर्थात् अविद्यानिवृत्ति से ब्रह्मरूपाविर्भाव मोक्ष है।

जहां नारदपरिव्राजकोपनिषद् में चौंवालीस एवं गौतम धर्मसूत्र में 40 संस्कार व 8 आत्मगुण संस्कार सम्मत हैं, वहीं गौतमसूत्र तथा संन्यासोपनिषद् में चालीस एवं गौतम स्मृति में भी चालीस संस्कारों का ही उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार गौतम धर्म शास्त्र में चालीस संस्कार भिन्न रूप है।

संस्कार के विविध अर्थ

संस्कार के कई अन्य अर्थ भी जान लेना अभीष्ट होगा। ये हैं—संस्कार परिमार्जित रूप में प्रस्तुति। अमरकोश में संस्कार-अधिवासन। संस्कार—दोष परिमार्जन हेतु एवं व्यक्ति में गुणों के आधान का उपाय। **पावनः प्रेत्य चेह च**—संस्कार इस जन्म और परजन्म में करने वाला कारक तत्त्व है। संस्कार सम्+कृ+घत्र् के संयोग से निष्पन्न शब्द है। संस्कार और संस्कृति—ये दोनों ही संस्कृत भाषा के बहुप्रचलित शब्द हैं। परिष्कृत, अभिमंत्रित, पवित्री कृत आदि अर्थों के द्योतक हैं।

उपरोक्त अर्थों के अलावा इसका प्रयोग शिक्षण, प्रशिक्षण, अनुशीलन, संस्करण, संस्मरण, प्रत्यास्मरण, परिष्करण, आभूषण, शोभा, संस्कृति, स्वरूप, स्वभाव, सौजन्य, प्रभाव, छाप, शुद्धि क्रिया, अभिषेक, धार्मिक अनुष्ठान, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम तथा क्रिया की विशेषता आदि विभिन्न अर्थों में भी होता है।

मीमांसा दर्शन में यज्ञीय आदि की सविधि शुद्धि ही संस्कार का आशय है। न्यायदर्शन में भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यंजक शक्ति 'संस्कार' है। वीरमित्रोदय अनुसार—परिशुद्धि अर्थात् सफाई संस्कार है। अभ्युदय मूलक उत्पन्न उत्तम कर्म संस्कृति एवं सत्-असत्कर्म मूलक उत्पन्न मनोवृत्ति अथवा आत्मवृत्ति संस्कार हैं। संस्कार—मुक्ति का प्रमुख सोपान है। श्रद्धा, भावना, धारणा, वासना—संस्कार है। अच्छा करना, शुद्ध करना, सुंदर करना, वस्तु में से वैगुण्य दोष का निवारण करके उसको नया आकर्षक रूप प्रदान करना संस्कार है। संस्कार एक मूल्यवान प्रक्रिया है, जिसका सामान्य अर्थ है—क्रिया के योग से मनुष्य में सद्गुणों का विकास एवं संवर्धन होता है—उस क्रिया को संस्कार कहा है।

हिंदू संस्कृति के अनुसार पवित्र संस्कारों से मार्जित आचार-व्यवहार, जो सद्व्रत पर टिकी हुई है और मानव के तन-मन से अपवित्र भाव, मल, दोष का परिमार्जन कर उनकी निवृत्ति करना और शुचिता, पवित्रता तथा पुण्य का भाव मन, वाणी एवं व्यवहार में प्रतिष्ठित करना संस्कार है।

आगमों में रजोमल को दूर कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने तक सारी रत्नत्रयी आराधना की प्रक्रिया—संस्कार है। जैनागम इसके प्रमाण है।

वेद-शास्त्रों में सामान्य-विशेष कर्मों के आचरण से शारीरिक तथा मानसिक मलों का परिमार्जन कर पवित्र और उत्कृष्ट बना कर मानव को मुक्ति के योग्य बनाना संस्कार है।

बौद्धों में, त्रिपिटकों में संस्कार से तात्पर्य है कि जो निर्वाण के योग्य बनाए—चार आर्य-सत्य, अष्टांग योग की चर्चा में, नैपुण्य प्राप्त करना।

सिक्खों में—जन्मादि चार संस्कारों में अमृत-संस्कार सबसे प्रमुख है। इसमें कुसंस्कारों से बचने की भी हिदायत दी गई है। सत्य की ज्योति को प्रज्वलित रखने का संस्कार ही संस्कार है। वहां प्रभु भक्ति के संस्कार के संदर्भ में कहा है कि जन्म-जन्म के संचित पापों एवं विषय-वासनाओं का विनाश करने के लिए मलिन बुद्धि को प्रभु के नाम में रंग देना चाहिए।

प्रभु का नाम-स्मरण ऐसी दिव्य औषधि है, जिसमें मन व तन, दोनों ही संस्कारित होते हैं। करोड़ों तीर्थों की यात्रा व दान का फल प्राप्त होता है। सत्संगति व गुरुकृपा के प्रभाव के नामरस से लोकोत्तर माधुर्य के पान का स्वर्णिम अवसर मिलता है।

भाष्यकार श्री रामानुजाचार्य लिखते हैं कि—**संस्कारों हि नाम कार्यान्तरयोग्यताकरणम्**—संस्कार न केवल उत्पन्न दुरित का ही नाश करता है, अपितु कार्यांतरयोग्यता का भी संपादन करता है। अर्थात् इसके द्वारा मलापनयन के साथ-साथ गुणाधान भी संपन्न होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अंतर्गत श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के लक्षण, गुण, कर्तव्य, संसार में रहने के नियम और जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त होने की राह बताई—जिसमें सत्संस्कार मूल हैं।

स्मृतिकार ने संस्कार का केंद्रीय अर्थ मन, वचन, और शरीर की शुचिता या शुद्धि से संदर्भित माना है। वहां मानस कर्म, वाचिक कर्म, शारीरिक कर्म का विश्लेषण किया गया है।

रामचरितमानस में संस्कार वर्णन विस्तृत रूप में है। सूरदास ने भी अपने काव्य संस्कारों का वर्णन किया है। कालिदास के साहित्य में भी संस्कारों का उल्लेख हुआ है। भवभूति के साहित्य में भी विभिन्न वर्ण्य संस्कारों का वर्णन हुआ है। ये दोनों ही महाकवि संस्कृत भाषा की दृष्टि से प्रकांड थे। जैन-दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति का वर्णन करते हुए संस्कारों की विचार-दीर्घा को प्रस्तुत किया है। न्याय-दर्शन में संस्कार को चौबीस भेदों में अंतिम भेद माना है, जो न्यायविहित चार प्रमाणों में शब्द-प्रमाण का विषय कहा है। आचार्य वाग्भट्ट ने अपने ग्रंथ अष्टांग संग्रह में संस्कार को परिभाषित किया है। महर्षि चरक ने संस्कार को 'करण' शब्द कहा है। वैशेषिक-दर्शन में व्यक्ति व समाज को अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति कराने का साधन संस्कार है।

ख्रीष्ट (मसीही) कलीसियाओं ने संस्कार की परिभाषाएं विभिन्न रूप में की हैं। मुख्य दो हैं—प्रतीक और अर्थ।

धम्मपद में संस्कार की परिभाषा करते हुए कहा गया—**सङ्खारा परमा दुक्खा**—संस्कार सबसे बड़ा दुख है। दुख कार्य कारण भाव है जो अविद्या से शुरू होता है। दुखानुभूति में पर्यवसान/अविद्या से संस्कार संभूत होते हैं। संस्कार का अर्थ—मनोजनित सृष्टि है।

संस्कार-शून्य चित्त दुख के कारणों से मुक्त हो जाता है। जो संस्कारों के विनाश को जान लेता है—वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने—**सा विद्या या विमुक्तये** के संदर्भ में पांच सूत्र संदर्भित किए हैं। उनमें मुक्ति का चौथा संदर्भ बताया है—धारणा और संस्कार से मुक्ति। व्यक्ति धारणाओं और अर्जित संस्कारों के कारण दुख पाता है। अतः शिक्षा का कार्य है कि वह इनसे मुक्ति दिलाए। उससे आनंद उपलब्ध होता है और आनंद सबसे बड़ी उपलब्धि है। सत्संस्कारों के जागरण से असत्संस्कारों का विलय संभव है। अतएव दुख के निवारण के लिए वैसी मस्तिष्कीय तरंग पैदा करनी होगी, जो हमें आनंद से भर दे। उसे जानने के लिए प्रेक्षाध्यान को समझना जरूरी है। उसकी विभिन्न तरंगों की ओर भी ध्यान आकर्षित करना जरूरी है।

संस्कार : विविध अंग

वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की विद्युत तरंगें हैं। ये इस प्रकार हैं—**अल्फा**—सुखद स्थिति में, प्रसन्नता में। **बीटा**—उत्तेजना काल में। **डेटा**—गहरी नींद में। **थेटा**—स्वप्नावस्था में। मस्तिष्कीय 'अल्फा' तरंगों के चलते स्थूलभद्र कामविजयी बन गए और मस्तिष्कीय 'अल्फा' तरंगों के कारण ही हेमचंद्र कामजयी बने।

जीवनविज्ञान की प्रणाली संस्कार परिवर्तन की प्रणाली है। जीवनविज्ञान के अनुसार हमारे स्वभाव, व्यवहार और बुद्धि का नियंत्रण मस्तिष्क से होता है। संस्कार मनुष्य के अंतर की श्रद्धा-भावना, मानवीय स्वभाव और अतिमानव शक्ति से संबंधित हैं। संस्कार विविध सत्त्व के मिश्रण हैं। अग्नि, प्रार्थना, आशीर्वाद, अभिषेक, दिशा-निर्देश, प्रतीकत्व, कालज्ञान और सामाजिक आशय—ये संस्कार के विविध अंग हैं। उपरोक्त प्रत्येक संस्कार भिन्न-भिन्न उद्देश्य लिए हुए हैं। संस्कारों का धर्मशास्त्रीय प्रयोग समान होने पर भी उसके कतिपय लौकिक अंग भी है।

व्यावहारिक रूप में संस्कार का अर्थ है—पवित्र, धार्मिक क्रियाओं द्वारा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक, बौद्धिक और मुख्यतः आत्मिक-परिष्कार हेतु अनुष्ठान—जिनसे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित करके समाज का अभिन्न अंग बना कर उसे निर्वाण की ओर अग्रसर करता है।

संस्कार क्या है, इसका उत्तर विविध धर्मग्रंथों के

अनुसार पूर्व में दिया जा चुका है। मेरे मत से 'सत्संस्कार' वह दीपक है, जो व्यक्ति को अनाचार से निकाल कर सदाचारी बना देता है। सत्संस्कार वह मेरुदंड है, जिसे मानवता का मेरुदंड कहा जाता है। सत्संस्कार शिष्टता, सौजन्यता तथा शील की आधारशिला है। सत्संस्कार मृत को भी अमर बना देता है। सत्संस्कार तिमिर में उजाला भरता है। सत्संस्कार जीवन को प्रशस्त बनाता है। सत्संस्कार स्वभाव, व्यवहार, आचरण अथवा जीवन का वह कार्य है—जिससे मानव की योग्यता, कर्तव्य-परायणता आदि का बोध होता है। इतिहास साक्षी है कि जितने सत्संस्कारी मानव हुए हैं, वे ही महापुरुष की गणना में आए हैं। संस्कार जीवन के विभिन्न अवसरों को महत्त्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। संस्कारों के लिए मन, वचन, कर्म की पवित्रता और एकरूपता अपेक्षित है।

सत्संस्कार : आत्मोत्थान का मूल आधार

व्यक्ति जब अनैतिकता, अप्रतीति, कामांधता, क्रोधांधता, मानांधता, मायांधता, लोभांधता का परिहार कर दया, सत्य, अहिंसा, करुणा, निर्लोभता, अमान, अमाया, अक्रोध, अकाम, प्रतीति, नैतिकता आदि सद्गुणों को अपनाता है—तभी वह इंसान, महान और भगवान बन सकता है।

आचार-विचार और संस्कार का अन्योन्याश्रित संबंध है। अतएव सत्संस्कार आत्मोत्थान का मूल आधार है। इनके संपादन, सदाचार से ही उन्नति, यश, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य एवं अनुत्तर सुखों की प्राप्ति संभव है।

तंत्रशास्त्र, योगशास्त्र एवं आधुनिक मनोविज्ञान—बाह्य आचारों एवं बाह्य भूमिकाओं के स्तर पर नहीं, अपितु संस्कारों के सूक्ष्म स्तरों पर परिवर्तन, परिशोधन एवं परिष्करण चाहते हैं।—**यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्**—अर्थात् गर्भावस्था के संस्कार मिटते नहीं। संभवतः इसीलिए मदालसा ने अपने तीनों पुत्रों को **शुद्धोऽसि** की लोरियां देकर संस्कार दिए।

अपने बालक के संबंध में प्रत्येक मां के कुछ संकल्प होते हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि मां के संस्कारों से ही गर्भस्थ शिशु के संस्कार निर्मित होते हैं। प्रह्लाद का भक्ति संस्कार, अभिमन्यु का शौर्य संस्कार, बुद्ध का कारुण्य संस्कार, महावीर का संयम, पराक्रमी संस्कार इस बात का साक्षी है कि बच्चे के निर्माण में मां की अहम भूमिका है। इसी प्रकार कंस के भय से सताई मां देवकी ने अपने गर्भस्थ शिशु के लिए संकल्प रूप कही गई, गाई गई, भापित हुई लोरियां एवं भावना से वासुदेव का जन्म वीरत्व से परिपूर्ण जीवन बना। इसमें देवकी एवं वसुदेव—दोनों के संकल्प की शक्ति का उजागर हुआ है।

संस्कारों का मूल उद्देश्य

संस्कारों का मूल उद्देश्य तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है—1. दोष परिमार्जन—मलिन पत्थरवत। 2. अतिशयाधान—सफाई से बढ़ने वाली चमकवत। 3. हीनाअंग पूर्ति—शेष रही-सही कसर की समाप्तिवत।

काशिका वृत्ति के अनुसार उत्कर्ष के आधान को संस्कार कहते हैं—**उत्कर्षाधानं संस्कारः**। संस्कार-प्रकाश के अनुसार—अतिशय गुण को संस्कार कहा जाता है—**अतिशयविशेषः संस्कारः**। इसी दृष्टि से संस्कार की तीन प्रक्रियाएं उल्लेखित हुई हैं—दोषमार्जन, अतिशयाधान एवं हीनाअंग पूर्ति।

महर्षि आश्वलायन ने तो यहां तक लिखा है कि—**संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम्**—अर्थात् जिसे संस्कार प्राप्त नहीं हो सके, उसका जन्म निरर्थक है। जीवन को सार्थक बनाने के लिए सत्संस्कारों की अत्यंत अनिवार्यता है। इससे स्पष्ट है कि हमारे जीवन में सत्संस्कारों का कितना महत्त्व है।

मेदिनीकोश के अनुसार संस्कार—प्रतियत्न, अनुभव अथवा मानसकर्म है। न्याय शास्त्र के अनुसार गुण विशेष का नाम संस्कार है।

संस्कारों का स्रोत

यहां प्रश्न उठता है कि संस्कारों का स्रोत क्या है? इसके जवाब में कहना होगा कि संस्कारों का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत—आनुवंशिकता है। आनुवंशिकता चरित्र का निर्णायक तत्त्व है। मात-तात से मात्र शरीर ही नहीं, मन भी प्राप्त होता है और संस्कार भी प्राप्त होते हैं। **सत्संस्कार जगाएं, संस्कृति बचाएं**—इसलिए जरूरी है कि संस्कारों का परिशोधन हो।

संस्कार के मुख्य स्रोत चार हैं—1. जन्म-जन्मांतरों से संचित संस्कार। 2. वंश-परंपरा अथवा आनुवंशिक अथवा मात-तात से प्राप्त संस्कार। 3. वातावरण से प्राप्त संस्कार तथा 4. क्रियमाण कर्मजन्य संस्कार। ये संस्कार असत् रूप भी हो सकते हैं और सत् रूप भी हो सकते

हैं। असत् संस्कारों को सत्संस्कार में रूपांतरित करने के लिए जरूरी है—सत्साहित्य का वाचन, सत्संगत, समुचित मार्गदर्शन एवं सहयोग। इसी प्रकार संस्कारशोधन में निमित्तभूत बनती है—शुद्धता। आहार की शुद्धता, विचार की, आचार की, व्यवहार की और अंतःकरण की शुद्धता। सत्संस्कारों के जागरण से ही अपनी संस्कृति की सुरक्षा संभव है।

आनुवंशिकता, प्राकृतिकता, सामाजिकता, वैयक्तिकता, व्यावहारिकता, नैश्चयिकता आदि की दृष्टि से संस्कार-परिवर्तन होते हैं। आचार्य पतंजलि ने—**संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्**—संस्कार के अंतर्गत लिखा है कि संस्कारों के साक्षात्कार से जन्म-जन्मांतर का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। योग एवं तंत्र के अनुसार संस्कार का अर्थ—**कर्माशय** अर्थात् प्रतिकर्म के बीजों का अवस्थान है।

संस्कार से उजागर होता है स्वरूप

संस्कारों के साक्षात्कार या दर्शन से जन्म-जन्मांतर का स्वरूप उजागर हो जाता है, क्योंकि उसमें ही कृतकर्म और होने वाले प्रतिकर्म के बीज बरगदवत छिपे रहते हैं। आजकल भौतिक विज्ञान जिसे 'जींस' कहता है, जो एक प्रकार की स्थूल प्रक्रिया है—इसे संस्कार-सूत्र भी कहा जाता है। इसके आधार पर ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। सर्वनीतियों में पारंगत, अत्यंत विद्वान, ज्ञानसंपन्न एवं तपस्वी होने पर भी संस्कारों के कारण रावण भी राक्षस की कोटि में ही परिगणित हुआ। जबकि राम सदाचरण, शील-संपन्नता जैसे सत्संस्कारों के कारण विश्व वल्लभ, विश्व वत्सल बन गए। यहां यह वर्ण्य है कि दोनों में इतना अंतर क्यों? इसका उत्तर यह है कि रावण दानवीय दुर्गुणों के कारण राक्षस की श्रेणी में आकर अपूज्य बन गया, जबकि मानवीय गुणों के कारण राम जगत्वंद्य, जगवत्सल बन जगत्पूज्य बन गए।

'कल्चर' का अर्थ संस्कृति नहीं

हिन्दी साहित्य में भी संस्कृति शब्द प्रयुक्त होता आया है। यह संस्कृत का मूल शब्द है, किंतु आज जिस अर्थ में 'कल्चर' के पर्याय के रूप में संस्कृति शब्द का उपयोग, प्रयोग होता है—उस अर्थ में 'संस्कृति' शब्द प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। संस्कृति शब्द विश्वव्यापी है, विशाल अर्थ वाला है। 'कल्चर' से वह भाव अभिव्यक्त नहीं होता। लैटिन भाषा में 'कुलतुरा' शब्द है, इस 'कुलतुरा' नामक शब्द से ही 'कल्चर' शब्द बना है, जिसका मानी है—पौधा लगाना या पशुओं का पालन करना। 'कल्चर' शब्द 'कल्टीवेशन' का समानार्थक है। जिसका अर्थ—कृषि-कर्म के साथ उन्नति और संवर्धन है।

मनोविज्ञान की भाषा में संस्कार के वर्ण्य विषय में उसके प्रकारों का उल्लेख मिलता है। ये तीन हैं—इदम् के संस्कार—निकृष्टतम संस्कार। अहम् के संस्कार—मध्यमार्गीय संस्कार। परम अहम् के संस्कार—पूर्ण आस्था वाले संस्कार। पहले प्रकार में मनोवृत्ति को दूषित करने के कारण इसे मनोविकृति उत्पन्न करने वाले संस्कार माना है। दूसरा—समायोजनपरक, समाजोपयोगी व मिश्रित संस्कारों का प्रकार है। तीसरा—नैतिक, सामाजिक, उच्च आदर्शों, विचारों, धर्म से ओतः-प्रोत संस्कारों का प्रकार है। योगसूत्र के अनुसार निरोध के संस्कार से चित्त में प्रशांति प्रवाहित होती है। ऋतंभराप्रज्ञोत्पन्न संस्कार व्युत्थान के संस्कारों - के प्रतिबंधक हैं, पर वैराग्य द्वारा समस्त संस्कारों के निरुद्ध हो जाने पर 'निर्बीजसमाधि' होती है। योगदर्शन में अष्टांगयोग की विवेचना संस्कारों की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

'संस्कार' शब्द का प्रयोग

कौषीतकी, छांदोग्य और बृहदारण्यकादि उपनिषदों ने संस्कार शब्द का प्रयोग और प्रभाव उन्नति के अर्थ में किया है। पाणिनि ने उत्कर्ष साधन, समवाय या संघात तथा आभूषण रूप—ये तीन अर्थ किए हैं। बौद्ध दर्शन ने संस्कार को भवचक्र की बारह शृंखलाओं में से एक माना है। अविद्यादि में दूसरा स्थान संस्कार का है। बौद्ध त्रिपिटकों में निर्माण, आभूषण, समवाय, प्रकृति, कर्म, स्कंध के अर्थ में संस्कार शब्द प्रयुक्त है। यहां संस्कार 'वासना' का पर्यायवाची भी माना गया है। संस्कृत साहित्य में संस्कार—शिक्षण, चमक, सजावट, आभूषण, छाप, आकार, सांचा, क्रिया, प्रभाव-स्मृति, पावक-कर्म, विचार, धारण-पुण्यादि किया गया है।

विद्वानों ने इसे अनिर्वचनीय पुण्य उत्पन्न करने वाला धार्मिक कृत्य कहा है। धैर्य, क्षमा, दुष्प्रवृत्तियों का दमन, अचौर्य, शुद्धता, इंद्रिय संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य व

शेष पृष्ठ 55 पर

क्षमा : रचनात्मक शक्ति

❑ समणी सत्यप्रज्ञा

सृजनात्मक चेतना का इतिहास कभी भी बलप्रयोग या दबाव का नहीं रहा। आत्म-शक्ति के आगे तलवार की शक्ति सदा ही झुकती रही है। आत्मा की रचनात्मक शक्ति क्षमा ही है, जो अहिंसक चेतना से उत्पन्न होती है और व्यक्ति को अतीत के भार से मुक्त कर वर्तमान में जीना सिखाती है। जैन आगमों में अहिंसा के पर्याय रूप में ही क्षमा को स्वीकार किया गया है। आत्मगुणों का हनन करने वाला हिंसक है और आत्मगुणों की रक्षा करने वाला अहिंसक है। अतः क्षमा व अहिंसा की एकरूपता स्पष्ट है।

क्षमा आत्मधर्म का प्रवेश बिंदु है। दशविध श्रमण धर्म में पहला स्थान इसी का है। क्रोध के उदय का निरोध और उदय प्राप्त क्रोध का विफलीकरण क्षमा है। क्षमा, तितिक्षा व क्रोध-निरोध को एकार्थक कहा गया है। क्रोध-विजय से क्षमा उत्पन्न होती है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति आत्मघातक है। राग व द्वेष की उभरती लहरों को बिना किसी प्रतिकार, चिंता और शोक आदि के सहन कर लिया जाना क्षमा का सुंदर रूप है।

चोट कभी भी और कहीं भी लग सकती है। तब यह प्रयास किया जाता है कि जल्दी से जल्दी उसका इलाज किया जाए और स्वस्थता प्राप्त की जाए। बाहरी चोट दृष्टि का विषय है और सजगता का विषय भी, पर समाज, व्यवहार, विचार व भावनाओं के जगत में जीने वाले व्यक्ति के लिए बाहरी चोट से कहीं अधिक आंतरिक चोट के प्रसंग उपस्थित होते हैं। बाहरी चोट की स्वस्थता के लिए तो व्यक्ति सजग हो जाता है और समाज व चिकित्सक भी। उसी तरह आंतरिक चोट के इलाज हेतु भी ऐसी ही सजगता अपेक्षित होती है। समय के मूल्य को समझने व आनंददाई जीवन जीने के लिए इसमें तीव्रता भी अपेक्षित है। पर आंतरिक चोट की चिकित्सा में चिकित्सक की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वयं को ही निभानी होती है और इसके इलाज का साधन बनता है—क्षमा।

धीमान लोग क्षमा करने में सदैव पहल करते हैं, क्योंकि यह अपने द्वारा अपनी ही रक्षा का सहज उपाय है। यह अपने प्रति अहिंसक व्यवहार भी है। आत्मा का मूल स्वभाव भी क्षमा ही है। यहां विभावों को प्रवेश का अधिकार नहीं है। प्रमादवश यदि कोई विभाव हावी होने की कोशिश करता है, तो सजगता के साथ उसे अस्वीकार कर दिया जाता है। विभावों के प्रति उपेक्षा भाव रखते हुए उनको क्षमा भी कर दिया जाना चाहिए। यही अनायस शस्त्र है। क्षमा का तात्पर्य किसी को कुछ देना नहीं है, अपितु चोट को नजरअंदाज कर दिया जाना है। हमें जिससे चोट पहुंची, जब हम उसके प्रति क्षमाभाव का प्रयोग करते हैं, तो हम दर्द की भावनात्मक कैद से मुक्त हो जाते हैं।

सृजनात्मक चेतना का इतिहास कभी भी बलप्रयोग या दबाव का नहीं रहा। आत्म-शक्ति के आगे तलवार की शक्ति सदा ही झुकती रही है। आत्मा की रचनात्मक शक्तिं क्षमा ही है, जो अहिंसक चेतना से उत्पन्न होती है और व्यक्ति को अतीत के भार से मुक्त कर वर्तमान में जीना सिखाती है। जैन आगमों में अहिंसा के

पर्याय रूप में ही क्षमा को स्वीकार किया गया है। आत्मगुणों का हनन करने वाला हिंसक है और आत्मगुणों की रक्षा करने वाला अहिंसक है। अतः क्षमा व अहिंसा की एकरूपता स्पष्ट है।

क्षमा आत्मधर्म का प्रवेश बिंदु है। दशविध श्रमण धर्म में पहला स्थान इसी का है। क्रोध के उदय का निरोध और उदय प्राप्त क्रोध का विफलीकरण क्षमा है। क्षमा, तितिक्षा व क्रोध-निरोध को एकार्थक कहा गया है। क्रोध-विजय से क्षमा उत्पन्न होती है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति आत्मघातक है। राग व द्वेष की उभरती लहरों को बिना किसी प्रतिकार, चिंता और शोक आदि के सहन कर लिया जाना क्षमा का सुंदर रूप है। कहा गया है—

सहनं सर्वकष्टानामप्रतिकार पूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितत्वात् क्षान्तिरित्यभिधीयते।।

आक्रोश, ताड़ना आदि प्रतिकूल परिस्थिति को भी समभाव पूर्वक सहन करना क्षमा का प्रायोगिक रूप है। क्षमा से युक्त अहिंसक व्यक्ति में विशिष्ट चैतन्य का जागरण होता है।—**खंतिसूरा अरिहंता**—क्षमा में शूर व्यक्ति ही विशिष्ट अर्हता संपन्न होते हैं। अहिंसक और क्षमाशूर व्यक्ति दूसरों के क्रोध आदि के आवेग को सहन जरूर करते हैं, लेकिन दीन बन कर नहीं। वे क्रोध के बदले प्रेम का प्रयोग करते हैं। मधुरता से किए जाने वाले प्रतिकार में सामने वाले को यह भान होता रहता है कि गलत रास्ते पर कौन है? आवेश के बदले आवेश सामान्य नियम है, लेकिन जब आवेश के प्रतिकार में शांति का प्रयोग किया जाता है और वह भी दूसरे को दिखाने के लिए नहीं—अपने स्वभाव और धर्म की रक्षा के लिए—तो इसका असर बिना बोले भी बहुत गहरे तक जाता है। मनोवैज्ञानिक सचाई से जुड़ा एक पक्ष यह भी है कि क्रोधी एकपक्षीय क्रोध आखिर कब तक करेगा। उसे जब क्रोध करने का पूरा अवसर मिलता है, तो यह भी समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध खतरे में है। क्रोध क्रोध से बढ़ता है। क्रोध के बदले में जब क्षमा मिलती है, तब वह स्वयं पछतावे में बदल जाता है और अंततः निस्तेज हो जाता है। क्षमा उस पर विजय पा लेती है। अहिंसक की क्षमापूर्ण प्रवृत्तियां प्रतिकूल को भी समय के साथ अनुकूल बनाने में समर्थ हैं।

जैन आगमों में क्षमा के परिणामों की चर्चा करते हुए कहा गया है—क्षमा करने से जीव मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ जीव सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्री भाव उत्पन्न करता है। मैत्री भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बना कर निर्भय हो जाता है। संक्षेप में प्रसन्नता, मैत्री और अभय इसकी विशेष उपलब्धियां हैं।

जीवन को जटिल बनाना सरल है, सरल बनाना ही कठिन है। जब आंतरिक प्रसन्नता की भावभूमि उपलब्ध हो जाती है, तब कोई जटिलता, जटिलता नहीं रह जाती है। तब जीवन की हर पहेली सरल और आसान बन कर सामने आ जाती है। समाधान की महत्त्वपूर्ण शक्ति के सारे स्रोत प्रसन्नता में ही विहित होते हैं। ऋषियों के स्वभाव की महत्त्वपूर्ण सचाई को व्यक्त करते हुए कहा गया—**महप्पसाया इसिणो हवंति**—ऋषिजन स्वभावतः महान प्रसन्नता के धारक होते हैं, प्रशांत होते हैं। इसीलिए अध्यात्म का निर्देश है—**अप्पाणं विप्पसायए**—अपने आप को विशेष रूप से प्रसन्न रखें। व्यवहार व आत्म स्तर पर सारे सद्गुणों का जन्म प्रसन्नता से ही होने वाला है।

जो निरंतर प्रसन्न रहता है, वह अनायास सबका मित्र बन जाता है। समूचे विश्व की प्रकृति में पक्ष और प्रतिपक्ष का अस्तित्व है। पदार्थ जगत और चेतन जगत भी इसका अपवाद नहीं हैं। मैत्री का अर्थ है—हमारी ऐसी अनुभूति हो कि जहां पक्ष और प्रतिपक्ष हो, विरोधी हो, भिन्नता हो—वहां भी शत्रुता न हो। यह अनुभूति जब पुष्ट होती है, मैत्री प्रकट हो जाती है। यह मैत्री सीमित नहीं, असीम होती है। यह मैत्री सबके साथ हो सकती है। न केवल प्राणियों के साथ, अपितु पदार्थ के साथ भी यह मैत्री हो सकती है।

मैत्री का जगत अभय का जगत है। मैत्री का अर्थ है—सारी बाधाओं से मुक्त होना। सारी बाधाओं से मुक्त होने का अर्थ है—अभय के जगत में विचरण करना। भगवान महावीर का वाक्य है—**मा भेतव्वं**—डरो मत। सारी बुराइयों की जड़ भय है। भय से मुक्त होना, दोषों से मुक्त होना है। अभय के मूल में जागरूकता को देखा जा सकता है। जो जाग्रत होता है, उसके पास भय आता भी है, तो टकरा कर चला जाता है। जागरूकता के कवच को भेद कर भय अंदर नहीं घुस सकता। जो अभय नहीं होता—वह अहिंसक,

शेष पृष्ठ 58 पर

पर्युषण : आत्मावलोकन का पर्व

❑ मुनि राजकुमार

जैन धर्म में पर्युषण पर्व को महान पर्व माना गया है। इसे पर्वों का राजा भी कहा है। इस पर्व को मैत्री पर्व भी कहा जाता है। जैन धर्म का अनुयायी वर्ग आठ दिन तक तप-त्याग से अपनी आत्मा को सजाता है, संवारता है। अपनी आत्मा को पावन बनाने हेतु वह बड़ा कोमल-स्वभावी होकर ऋजुता भरे गुणों से अपने आपको ओत-प्रोत करता हुआ कर्म-क्षय करने का सुंदरतम प्रयास करता है। पर्युषण पर्व के आठ दिनों में विशेष पुरुषार्थ के माध्यम से तप-त्याग के द्वारा आत्मा को पावन बना कर परमात्म-स्वरूप बनाने का प्रयास करने से ही यह महान पर्व हमारे लिए मंगलकारी, कल्याणकारी बन सकता है। पर्युषण पर्व जैन समाज का सर्वोपरि धार्मिक त्योहार है। पर्युषण आत्मा के साथ नैकट्य साधने का पर्व है, दूसरे शब्दों में स्वयं से नैकट्य स्थापित करना ही इस पर्व का उद्देश्य है।

यह कथन आश्चर्यजनक अवश्य लग सकता है कि कोई भी व्यक्ति स्वयं से दूर कैसे रह सकता है, कि उसे निकटता की साधना करनी पड़े, परंतु यह सच है कि अधिकांश मनुष्य अपने शरीर एवं भौतिक वस्तुओं के जितने निकट होते हैं—उतने अपनी आत्मा के नहीं। उन्हें आत्मा के विषय में विश्वास ही नहीं होता, कि शरीर से पृथक उसका कोई अस्तित्व होता है। शरीर को वे देखते हैं, उसकी अनुभूति करते हैं, वस्तुओं को भी देखते और अनुभूति करते हैं, परंतु आत्मा को न देखते हैं और न उसकी कोई अनुभूति ही कर पाते हैं। इस स्थिति में उसके अस्तित्व को स्वीकारना उनके लिए कठिन हो जाता है। इसलिए वे उसे स्पष्टतया अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार के मुखर या अमुखर सभी व्यक्तियों को सुप्त कोटि में गिना जा सकता है। दूसरी कोटि में उन मनुष्यों को लिया जा सकता है जिनके पास अपना कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, परंतु विशिष्ट साधकों के अनुभवों को सुनने से उन्हें उस स्थिति पर विश्वास हो जाता है।

> जैन धर्म के मूलभूत सिद्धांत अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत, सत्य-साधना, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र हैं। ये सभी सिद्धांत युग धर्म के प्रेरक तत्त्व हैं। जीव-दया, करुणा, समता, सम्यक्-मध्यस्थ दृष्टि के साथ संतुलित व विवेकपूर्ण दृष्टिकोण और व्यवहार इसके गुण-तत्त्व हैं। मानव धर्म की संज्ञा यही कही जा सकती है। इस तरह माना जा सकता है कि हम इन जैन सिद्धांतों को एक धार्मिक परिपाटी की परिधि में सीमित कर के या बांध कर क्यों रखें? इनका महत्त्व और लाभ तो इनके विश्वत्व और विश्व-व्यापी हो जाने में है। पर्युषण पर्व ऐसा ही एक अवसर है, जब हम निष्काम और अहं-शून्य दृष्टिकोण से सबकुछ देख सकते हैं और जड़ परंपरा से मुक्ति ले सकते हैं। हम खुले रूप से और व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार करें कि जैन-दर्शन यदि विश्व-दर्शन बन जाए तो संसार के भविष्य की कायापलट हो सकती है।

प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने वालों की वाणी पर विश्वास करके वे स्वयं उस स्थिति तक पहुंचने का प्रयास करते हैं। फलतः वे स्वानुभव के द्वार की ओर अग्रसर होने लगते हैं। दूसरी कोटि के ऐसे व्यक्तियों को श्रद्धालु कह सकते हैं। पर्युषण पर्व की आराधना करने वाले ये ही व्यक्ति होते हैं। श्रद्धा को परम दुर्लभ इसीलिए कहा जाता है कि इसी मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ मनुष्य परम सत्य का, अर्थात् आत्मवत का साक्षात्कार कर सकता है। यह पर्व उन श्रद्धालुओं का है जो आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा को प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत कर लेना चाहते हैं।

धर्मनिष्ठ व्यक्ति इस पर्व की बड़ी उमंग और आतुरता से राह देखते हैं। इन पावन परम दिनों में धर्मशास्त्र पढ़ कर और संतवाणी सुन कर धर्म के सिद्धांतों में आस्था प्रबल होती है तथा वैचारिक एवं दार्शनिक संबल प्राप्त होता है और व्यवहार एवं आचरण में इससे एक गतिशील अभिव्यक्ति मिलती है। जैन धर्म तप, व्रत, उपवास, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, अपरिग्रह, तपस्या, त्याग की भावना को मूर्तरूप देता है। तन, मन और वचन के संयम को मजबूत करता है और हृदय में जीव-दया, करुणा, सहानुभूति और मैत्री भाव के गुण तत्त्वों को जाग्रत करता है। इसी क्रम में संवत्सरी के बाद क्षमावाणी के दिन उत्तम क्षमाभाव से सर्वव्यापी होकर व्यक्ति न केवल आध्यात्मिक सौहार्द, बल्कि जीवन व्यवहार में परस्पर समरूपता, सहृदयता और स्नेह की भावनाओं को संजीवनी प्रदान करता है। इससे जीवन के व्यवहार और आचरण में खुलापन आता है और व्यवहार में कपट, कटुता, छल, वैमनस्य, संदेह सरीखी प्रवृत्तियों को पराजय मिलती है।

जैन धर्म के मूलभूत सिद्धांत अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत, सत्य-साधना, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र हैं। ये सभी सिद्धांत युग धर्म के प्रेरक तत्त्व हैं। जीव-दया, करुणा, समता, सम्यक्-मध्यस्थ दृष्टि के साथ संतुलित व विवेकपूर्ण दृष्टिकोण और व्यवहार इसके गुण-तत्त्व हैं। मानव धर्म की संज्ञा यही कही जा सकती है। इस तरह माना जा सकता है कि हम इन जैन सिद्धांतों को एक धार्मिक परिपाटी की परिधि में सीमित कर के या बांध कर क्यों रखें? इनका महत्त्व और लाभ तो इनके विश्वत्व और विश्व-व्यापी हो जाने में है। पर्युषण पर्व ऐसा ही एक अवसर है, जब हम निष्काम और अहं-शून्य दृष्टिकोण से सबकुछ देख सकते हैं और जड़ परंपरा से मुक्ति ले सकते हैं। हम खुले रूप से और व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार करें कि जैन-दर्शन यदि विश्व-दर्शन बन जाए तो संसार के भविष्य की कायापलट हो सकती है।

पर्युषण पर्व एक महायज्ञ है। इस महायज्ञ में प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति अपनी बुराइयों की आहुति देकर पावन पवित्र बन सकता है तथा मैत्री की महा-गंगा में स्नान करके शुद्ध एवं प्रबुद्ध बन सकता है। इस पर्व के माध्यम से आत्मा पर जमे हुए असत् प्रवृत्तियों के संस्कार धुल जाते हैं।

भगवान महावीर ने वीतरागता तक पहुंचने के लिए चार प्रकार के स्नान बताए हैं। किसी के साथ अनुचित व्यवहार हो गया हो तो उसी समय क्षमायाचना करना अथवा सायंकाल प्रतिक्रमण करके क्षमायाचना करना—पहला स्नान है। दूसरा स्नान—पाक्षिक प्रतिक्रमण है और तीसरा चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। चौथा स्नान सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करके क्षमायाचना करना है। भगवान महावीर ने कहा है—अनुचित व्यवहार करके संवत्सरी के दिन क्षमायाचना न करने वाला असाध्य रोगी कहलाता है। पर्युषण पर्व पर क्षमायाचना करके हम शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक आरोग्य प्राप्त करें तथा अपूर्व आनंद का अनुभव करें।

भारतीय संस्कृति में पर्व का बहुत बड़ा महत्त्व है। वर्ष के तीन सौ साठ दिनों में शताधिक पर्व आ जाते हैं। पर्युषण-पर्व उसी शृंखला की एक कड़ी है। पर, इसका स्वरूप अन्य पर्वों से बहुत भिन्न है। यह विशुद्ध आध्यात्मिक पर्व है। इस पर्व में साधना, क्षमा, सहिष्णुता और मैत्री की आराधना का महत्त्व है। इससे भी अधिक महत्त्व है—उपशम की साधना का। जीवन में आध्यात्मिकता का अवतरण तभी होता है, जब कषाय उपशांत होते हैं। जब क्रोध, मान, माया और लोभ उपशांत होते हैं, तब इनके उपजीवी भय, शोक, घृणा और कामना के चक्र भी गति-शून्य हो जाते हैं। इस अष्टाह्निक पर्व की आराधना के समय जैन परंपरा और जैन-साधना पद्धति के विषय में पर्याप्त जानकारी भी दी जाती है। इस तरह पर्वाधिराज पर्व पर्युषण हमें आत्म-जागृति की प्रेरणा देता है। यह पर्व हमें आत्मरमणता की ओर ले जाता है—**परिसमन्तात आउषणं इति पर्युषणम।**

चारों ओर से इंद्रियों को स्वयं की ओर मोड़ना और 'स्व' में समाहित होना ही पर्युषण का लक्ष्य है।

हमें यह तो समझ ही लेना चाहिए कि आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा को प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत कर लेना, चटपट हो जाने वाला कार्य नहीं है। यह बहुत लंबा मार्ग है। पर इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है कि जिस पर चल कर आत्म-साक्षात्कार किया जा सके। अतः चलना तो प्रारंभ करना ही चाहिए। बेशक पूर्णावस्था तक पहुंचने में दुरूह घाटियों को पार करना होगा। आत्म-जिज्ञासुओं के लिए शिखर तक पहुंचना ही अंतिम लक्ष्य होता है। मनुष्य की चेतना अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत विकसित होती है और चेतना की उच्चतम स्थिति तक पहुंचने का अभ्यास इस पर्व में किया जा सकता है। इस पर्व पर उसका मार्गदर्शन सरलता से सुलभ हो जाता है और इस काल में चारों ओर का वातावरण भी उसमें सहायक बन सकता है।

चेतना ही आत्मा का लक्षण है, वह उससे भिन्न नहीं है। जिसने चेतना को जान लिया, वह आत्मा को भी जानेगा ही। अंतर्मन की कलुषता को मिटाना, सत्य मार्ग पर चलना तथा सबके प्रति मैत्रीभाव का विकास करना, गुणीजनों के प्रति प्रमोद-भाव का विकास करना—आदि अनेक कार्य आत्मशुद्धि या चेतना विकास में सहायक बन सकते हैं। अतः यह पर्व इन सबके लिए एक अमूल्य अवसर है। हर व्यक्ति को इसका अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिए। ❖

संस्कार संपदा : एक अनुशीलन पृष्ठ 50 का शेष

अक्रोध—ये धर्म के दस लक्षण हैं, जो जीवनमूल्यों के आधार पर हैं। व्यक्तित्व निर्माण के लिए वृत्तियों का, संस्कारों का परिशोधन जरूरी है।

विनय, स्वाध्याय, ध्यान आदि निर्जरा के बारह भेद, मोक्ष के चार मार्ग, दस श्रमण धर्म आदि इस दृष्टि से उत्कर्ष-आनंद की शृंखला हैं—इस तरह सत्संस्कार की लंबी शृंखला है। जैनागम में आचारांग, संपूर्ण आगम आप्तवाणी इस दृष्टि से काबिले तारीफ एवं अनुकरणीय, अनुपालनीय, अनुशंसनीय है।

आचरण स्वयं में ही आईना है—जिससे सद्भाव, सौहार्द, सुख, शांति, स्नेह झलकता है। किसके साथ कैसा व्यवहार हो, इसलिए रिश्तों की ओर भी ध्यान अपेक्षित है। सास-बहू का, बाप-बेटे का, मालिक-नौकर का, गुरु-शिष्य का, पति-पत्नी का, स्वजन-परिजन का, अड़ोसी-पड़ोसी का रिश्ता और वाणी-व्यवहार में सुमधुरता जीवन के रिश्तों में मिठास घोलती है। इससे आत्मीय संबंध सतत बने रहते हैं।

सहनशीलता, संतोष, सृजनात्मकता, स्वदेश-प्रेम, समय-सदुपयोग, स्वाध्याय, सद्ध्यान, सकारात्मक-शिक्षा, शुद्धता, आहार-विहार, व्यवहार की शिक्षा और सप्तपदी भी जीवन को सज्जीवन बनाने की कामयाब पीठिका है। इसके अलावा विनय, संयम, तप, धीरता, वीरता, गंभीरता, श्रमशीलता, मितव्ययिता, अमानता, उदारता, अवदातता गुण एक नारी को जहां सन्नारी बनाते हैं, वहीं वह पूरे परिवार में सद्गुणों की सुरम्य सौम्य खुशबू से सुगंधित करती है। संस्कारों की यही फलश्रुति है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

सांप की सीख

❑ सत्येन्द्र शरत्

बात बहुत पुरानी है। तब लोग पैदल एक जगह से दूसरी जगह जाया करते थे।

एक व्यक्ति अपने गांव से शहर जा रहा था। रास्ते में उसे एक वन के बीच में से गुजरना था। धूप और पसीने से व्याकुल जब वह उस सघन वन में पहुंचा, तो वृक्षों की शीतल छाया देख, उसके मन में विचार आया कि थोड़ी देर सुस्ता लिया जाए। वह बरगद के एक बहुत घने पेड़ के नीचे अपनी चादर बिछा कर लेट गया।

सहसा उसने देखा कि पेड़ की जड़ में बनी बांबी में से एक सांप धीरे-धीरे बाहर आ रहा है। वह डर कर एकदम उठ बैठा, किंतु सांप ने उसकी ओर देखा तक नहीं। सांप के मुंह में एक मणि थी, जो बहुत चमक रही थी। बांबी से कुछ दूर आकर सांप ने वह मणि जमीन पर रख दी और वापस अपनी बांबी में लौट गया। मणि देख कर आदमी अवाक् रह गया, लेकिन वह इतना सहम गया था कि आगे बढ़ कर उस मणि को छूने या उठाने का साहस न कर सका। बस, चुपचाप बैठा उस दिपदिपाती मणि को देखता रहा।

थोड़ी ही देर बाद सांप फिर बाहर आया। इस बार भी उसके मुंह में वैसी ही प्रकाशमान मणि थी। सांप उसी प्रकार सरकता हुआ, आदमी की ओर बिना देखे पहली मणि के पास पहुंचा और दूसरी मणि को उसके पास रख, फिर बांबी में घुस गया।

कुछ देर बाद सांप बांबी में से तीसरी मणि लेकर बाहर आया; फिर चौथी और फिर पांचवीं। इस प्रकार सांप एक-एक करके पांच मणियां अपनी बांबी में से बाहर लाया और उन्हें एक जगह एकत्र करता रहा। आदमी मंत्र-मुग्ध होकर यह सब कौतुक देखता रहा। उसे ध्यान ही नहीं रहा कि सूर्य ढलने लगा है, धीरे-धीरे प्रकाश कम होने लगा है और उसे रात होने से पहले शहर पहुंच जाना है।

—'अरे मूर्ख! तू क्यों इस प्रकार शोक कर रहा है? तेरे पास था ही क्या, जो तू लुट गया? वे मणियां तेरी कहां थीं? क्या तूने उन्हें अर्जित किया था? क्या तूने श्रम कर उन्हें प्राप्त किया था?...फिर उनके चले जाने पर तू इस प्रकार विलाप क्यों कर रहा है?'

—'देख, तेरे परिचित के घर में जो कन्या उत्पन्न हुई है, अपने पिछले किसी जन्म में मैं उसका ऋणी था। ये मणियां उसी की थीं, जो कल रात मैंने तेरे माध्यम से उसके पास पहुंचा दीं। तू तो हरकारा भर था, जिसने मुझसे मणियां लेकर उस तक पहुंचा दीं। तेरी मेहनत और तेरी भाग-दौड़ के लिए मैंने अब तुझे एक मणि दे दी है। यह तेरे श्रम का पुरस्कार है। हंसी-खुशी इसे उठा ले और अपने घर जा। गड़े-धरे या रास्ते में मिले धन से व्यक्ति धनी नहीं बनता। तू श्रम कर और अपने लिए स्वयं धन अर्जित कर। उसी से तुझे सुख-संतोष मिलेगा।'

वह बिना हिले-डुले बैठा हुआ और उन चमचमाती मणियों को देखता रहा।

जब बहुत देर हो गई और सांप बांबी से बाहर नहीं आया, तो उस आदमी ने हिम्मत बांधी और जल्दी से मणियों के निकट पहुंच कर फुर्ती के साथ उन्हें अपनी चादर में बांधा और चादर को अपनी गठड़ी में रख कर उलटे पांव अपने घर की ओर भागने लगा। लेकिन, उसका गांव बहुत दूर था। वह आधी रात से पहले वहां नहीं पहुंच सकता था। इसलिए उसने निश्चय किया कि पास के ही एक गांव में अपने एक जान-पहचान वाले आदमी के यहां रात बिताएगा और सुबह-ही-सुबह अपने घर लौट जाएगा। शहर जाने का इरादा उसने छोड़ दिया।

अपने जान-पहचान वाले आदमी के घर पहुंचने पर उसकी बड़ी आवभगत हुई। उसके परिचित ने उसे मक्की की रोटी, मक्खन और सरसों का साग खिलाया और बरामदे में उसके सोने की व्यवस्था कर दी। अपनी गठड़ी सिरहाने रख, आदमी बिस्तर पर लेट गया, मगर उसे नींद नहीं आई। उसे यही डर बना रहा कि अगर वह सो गया और किसी ने उसकी गठड़ी पार कर ली, तो वह जीते-जी ही मर जाएगा।

- आखिर उससे रहा नहीं गया। घर के सब लोगों के सो जाने पर वह दबे पांव उठा और अपनी गठड़ी लेकर बरामदे के दूसरे कोने तक गया, जहां कड़वे तेल का एक दीया जल रहा था। नीचे ही कड़वे तेल की एक हांडी रखी थी। आदमी कुछ देर सोचता रहा। उसके बाद उसने हांडी पर से चपण उठाई और चादर में से मणियां निकाल कर हंडिया के अंदर डाल दीं और चपण को उसी तरह हांडी के ऊपर रख, अपने बिस्तर तक पहुंच गया। निश्चिंत हो जाने के कारण उसे गहरी नींद आ गई। वह दिन-भर का थका हुआ भी था।

आधी रात को उसके परिचित की पत्नी को प्रसव-पीड़ा शुरू हुई और थोड़ी ही देर में उसने एक लड़की को जन्म दिया।

जच्चा और बच्ची के लिए तेल की आवश्यकता हुई तो नवजात बच्ची की दादी तेल की हांडी सौरी में से उठा लाई। ज्योंही उसने हांडी पर से चपण उठाई, मणियों की चमक से उसकी आंखें चुंधिया गईं। बच्ची की दादी ने समझा, नई बच्ची लक्ष्मी है और अपने साथ लक्ष्मी लेकर घर में आई है। बच्ची को सौभाग्यशाली समझ, उसने मणियों को तेल की हांडी में से बाहर निकाला और उन्हें पोंछ कर एक पोटली में संभाल कर रख दिया। जितने तेल की जरूरत थी, उतना तेल लेकर दादी ने हांडी फिर बरामदे में रख दी।

पौ-फटते ही वह आदमी उठा और तेल की हांडी की ओर लपका। जैसे ही उसने चपण उठाई, उसके पैर के नीचे से धरती खिसक गई। हांडी में थोड़ा तेल तो था; मगर मणि एक न थी। वह किसी से क्या कह सकता था? उतरा हुआ सा चेहरा लिए हुए वह फिर उलटे पैरों वन में उसी जगह, उसी बरगद के नीचे पहुंचा और जमीन पर पछाड़ खाकर गिर पड़ा और जोर-जोर से रोने लगा।

थोड़ी देर बाद उसने देखा, बांबी में से सांप सरकता हुआ बाहर आ रहा है। उसके मुंह में पहले दिन की भांति एक मणि भी है। आदमी का रोना-धोना थम गया। सांप ने मणि धरती पर एक जगह रख दी और वापस अपनी बांबी में चला गया।

वह आदमी काफी देर तक प्रतीक्षा करता रहा कि सांप दूसरी मणि लेकर फिर बाहर आएगा, लेकिन जब बहुत देर हो गई और सांप बाहर नहीं आया, तो आदमी ने उसी प्रकार रोना-धोना, छाती पीटना और—'हाय! मैं लुट गया! हाय! मैं बरबाद हो गया!'—कह कर चिल्लाना शुरू कर दिया।

वह इस प्रकार विलाप कर ही रहा था कि बांबी में से एक गंभीर आवाज आई—'अरे मूर्ख! तू क्यों इस प्रकार शोक कर रहा है? तेरे पास था ही क्या, जो तू लुट गया? वे मणियां तेरी कहां थीं? क्या तूने उन्हें अर्जित किया था? क्या तूने श्रम कर उन्हें प्राप्त किया था?...फिर उनके चले जाने पर तू इस प्रकार विलाप क्यों कर रहा है?'

—'देख, तेरे परिचित के घर में जो कन्या उत्पन्न

हुई है, अपने पिछले किसी जन्म में मैं उसका ऋणी था। ये मणियां उसी की थीं, जो कल रात मैंने तेरे माध्यम से उसके पास पहुंचा दीं। तू तो हरकारा भर था, जिसने मुझसे मणियां लेकर उस तक पहुंचा दीं। तेरी मेहनत और तेरी भाग-दौड़ के लिए मैंने अब तुझे एक मणि दे दी है। यह तेरे श्रम का पुरस्कार है। हंसी-खुशी इसे उठा ले और अपने घर जा। गड़े-धरे या रास्ते में मिले धन से व्यक्ति धनी नहीं बनता। तू श्रम कर और अपने लिए स्वयं धन अर्जित कर। उसी से तुझे सुख-संतोष मिलेगा।' ❖

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009
Phone : (079) 23276252, 23276204-0

क्षमा : रचनात्मक शक्ति

पृष्ठ 52 का शेष

सत्यवादी, ब्रह्मचारी व अपरिग्रही नहीं होता। जहां भय समाप्त होता है—वहीं धर्म प्रारंभ होता है, सहन शक्ति बढ़ती है और परीषहों पर विजय प्राप्त होती है।

क्षमा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं, सब जीव मुझे भी क्षमा करें। सब जीवों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ मेरा वैर नहीं है। क्षमा के इस भावनात्मक स्वरूप को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति सामाजिक सद्भाव, सबके साथ आत्मीयता व अच्छा स्वास्थ्य अनायास प्राप्त कर लेता है।

'डेयर टू फोरगिव' पुस्तक में क्षमा के दो रूपों की चर्चा है—'डिसिजलन फोरगिवनेस' और 'इमोशनल फोरगिवनेस'। किसी ने अपमान किया और आपने क्षमा किया—यह तो क्षणिक कार्य है। निर्णायक क्षमा में स्वेच्छा से यह तथ्य स्वीकार किया जाता है कि क्षमा करना है—यह अलग चीज है। बाहर से क्षमा का प्रयोग किए जाने के बावजूद भी घटना के कई तरह के कटु-संस्कार भीतर में रह सकते हैं। 'इमोशनल' क्षमा की स्थिति भिन्न है। इसमें क्षमा अपने मौलिक स्वभाव के रूप में स्वीकृत होगी। क्षमा किया जाना अपने स्वभाव को सुरक्षित रखना है। इसमें भीतर में पूरी तरह से हलकापन होगा। दिल में कोई कटुता या कड़वाहट न होगी। निर्णायक क्षमा व भावनात्मक क्षमा को दयादृष्टि व क्षमावृत्ति के रूप में भी जाना जा सकता है। दयादृष्टि में सामने वाले को तुच्छ गिनने का भाव होता है। क्षमा में सहृदयता से अर्पित की गई मानवीय एकता है, प्रेम है।

बदला लेने की भावना तो हर जगह संभव है, पर उससे होना क्या है? कहा गया—इफ यू डिवोट योर लाइफ टू सिक रिवेंज, फर्स्ट डिग टू ग्रेव्ज—वैर-विरोध करने वाला अहित किसी दूसरे का नहीं करता, अपना ही करता है। वैर से वैर कभी शांत नहीं होता। यह नियम सदा से चला आया है। मैत्री भाव से वैर को शांत किया जा सकता है। जो मनुष्य अपने क्रोध को अपने ऊपर झेल लेता है, वही दूसरे को क्रोध से बचा सकता है। जिसने अपने जीवन में क्षमा के महत्त्व को समझ लिया, उसने जीवन के सार को प्राप्त कर लिया।

क्षमा का विराट और वास्तविक सिद्धांत आत्मतुला का सिद्धांत है। इसमें सब जीवों के साथ मैत्री होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार—मैत्री का दार्शनिक पक्ष है—आत्मतुला का सिद्धांत। सबको अपने समान समझने और मानने की स्थिति इसमें होती है। इसका प्रायोगिक पक्ष है—हित-चिंतन करना। अपना हित सोचना, दूसरों का हित सोचना। जो अज्ञानी हैं, उन्हें ज्ञान देने का प्रयत्न करें। जो जानते हुए भी गलत रास्ते पर जा रहे हैं, वे मूढ़ हैं, मोहग्रस्त हैं—उनकी मूढ़ता दूर करें। जो शक्तिहीन हैं—उन्हें सहारा दें। जिसमें कम क्षमता है—उसमें प्राणशक्ति भरें। यह मैत्री का व्यावहारिक प्रयोग है। इससे मैत्री का सिद्धांत व्यापक बनता है।

अपना हित-चिंतन करना मैत्री का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। जो व्यक्ति अपना हित सोचता है, वह कभी वैर-विरोध के मार्ग में नहीं जाता। वह क्षमा का प्रयोग दूसरों पर उपकार करने के लिए नहीं, अपना उपकार करने के लिए करता है, अपना हित चाहते हुए करता है। अपना हित बिगाड़ कर कोई आदमी दूसरे का हित नहीं साध सकता। दूसरे के हित की चिंता किए बिना भी कोई व्यक्ति अपना हित नहीं साध सकता। केवल अपना हित साधने वाली मैत्री सीमा की मैत्री होगी। किंतु, दूसरे को कष्ट न देना—यह सार्वजनिक मैत्री है। मैत्री के बिना हम अपना कल्याण नहीं कर सकते, जीवन का कल्याण नहीं कर सकते। जिस दिन अनुभूति के स्तर पर—**मित्ती मे सव्वभूएसु**—का साक्षात्कार होगा, जीवन दिव्य आलोक से जगमगा उठेगा। ❖

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 0261-2322076 Fax : 02622-275120

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, अगस्त, 2009
प्रेषण दिनांक 28 जुलाई, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence
No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

SMT

SMT SOURCE FOR STEEL MILL PLANTS

An ISO 9001:2000 Co. and Government of India Recognized EXPORT HOUSE

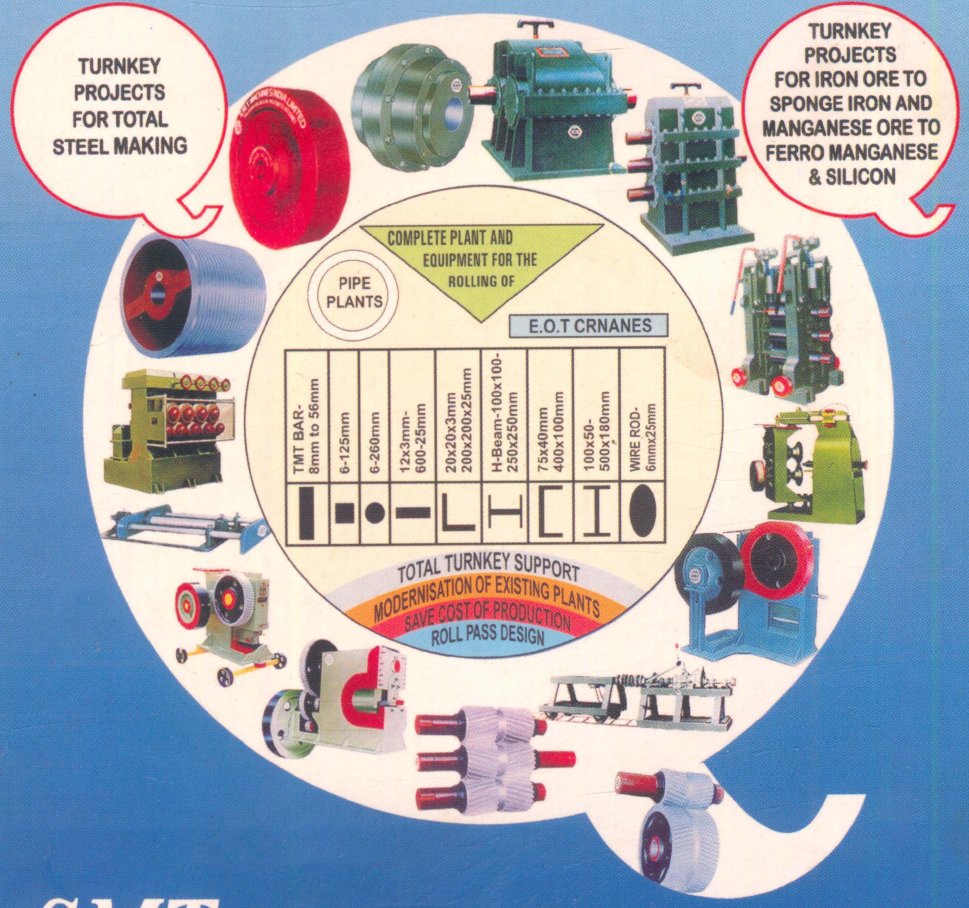

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

(ENGINEERS, CONSULTANTS, MANUFACTURERS, SUPPLIERS & EXPORTERS OF COMPLETE STEEL MILL PLANTS & ALLIED MACHINERY)
POST BOX NO. 71, G.T.ROAD, NEAR FOCAL POINT, MANDI GOBINDGARH - 147301 (PUNJAB) INDIA
TEL: +91-1765-256337, 257742 FAX: +91-1765-255199
E-mail : Info@smtmachinesindia.org
For Further details, please visit us at : www.smtmachinesindia.org

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।